वर्णाश्रम धर्म

और

समाजवाद

—:❀०❀:—

लेखक,—

ईश्वरचन्द्र शर्मा
"मौद्गल्य"

—:❀०❀:—

प्रकाशक:—

गौतम बुकडिपो
नई सड़क, देहली

प्रथम बार १००० मूल्य १)

इन्साइट प्रेस, नई सड़क, देहली।

निवेदन

— —:o: —

वर्णाश्रम धर्म के मानने वाले भारत में चिरकाल से हैं। कुछ वर्षों से कार्लमार्क्स द्वारा प्रचारित समाजवाद को लोग अपना रहे हैं। पर प्रायः धर्म के प्रेमी समाजवाद और समाजवादी धर्म को हानिकारक समझते हैं। मनुष्य-समाज के सर्वाङ्गीण अभ्युदय के लिए दोनों आवश्यक हैं। मुझे इन दोनों के मूलरूप में नैसर्गिक वा आगन्तुक विरोध नहीं प्रतीत होता। परीक्षक सज्जनों की सेवा में आदर और प्रेम के साथ इस विषय पर कुछ विचार भेंट करता हूं।

ईश्वर चन्द्र शर्मा
'मौद्गल्य'

दीवान हाल
दिल्ली
२८-२-४८

विषय-सूची

—:o:—

विचारणीय विषय

—:o:—

मनुष्यों का जीवन सुख से परिपूर्ण रहे इसके लिये प्राचीन काल के लोगों ने कर्तव्यों का विभाग कर दिया था। आज भी विद्वान् मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिये कर्म-विभाजन के उत्तम स्वरूप का विचार नई दशाओं में नई रीति से कर रहे हैं। प्राचीनों ने कर्म विभाग के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था को प्रकट किया। समय समय पर इसका स्वरूप बदलता रहा। इसके शुद्ध और विकृत रूप के अनुसार समाज की व्यवस्था होती रही। वर्णाश्रम के अनुसार चलकर भारतीय लोगों ने कभी सुख देखा और कभी दुःख। वर्णाश्रम का कौन सा रूप सुख और कौन सा दुःख का कारण हुआ इस विषय में भारी मतभेद है। यहां इस पर विचार नहीं करना है। पाश्चात्य विद्वानों ने समाज-व्यवस्था को यथा-संभव सुख का अधिकाधिक कारण बनाने के लिये विविध शासन प्रणालियों का आविष्कार किया। गत शताब्दी में आचार्य कार्ल मार्क्स ने समाजवाद का परिष्कृत रूप प्रकाशित किया। मार्क्स से प्रकाशित समाजवाद शासन के नये ढंग को दिखाता है। आज रूस में समाजवाद का अनुयायी शासन है। रूस के इस नवीन शासन के प्रभाव को देखकर संसार चकित हो रहा है। इस शासन की महिमा से रूस के लोगों ने नव-जीवन पाया है। समाजवाद और समाज के शासन के गुणों को देखकर संसार के लोग अपने अपने देशों में इसी शासन का प्रचार करना चाहते हैं।

भारत में भी समाजवाद के प्रेमियों की भारी संख्या है। कुछ का तो इस पर उसी ढंग का आग्रह है जिस प्रकार का साम्प्रदायिक लोग संप्रदाय पर रखते हैं। समाजवाद का उद्दाम प्रचार करने वाले अनेक लोग वर्णाश्रम धर्म के साथ इसका भारी विरोध समझते हैं और वर्णाश्रम का मूल से नाश करना चाहते हैं। भारत में सदा मतभेद रहा है पर कभी किसी ने शासन के बल से विरोधी मत को मिटाने की इच्छा नहीं की। राज्य अपने कार्य में विघ्न न करने वाले परस्पर विरोधी मतों को फलते फूलते देखता रहा है। समाजवादी वर्णाश्रम धर्म को सामाजिक शासन में रुकावट बतलाते हैं और यही विचार का विषय है। दूसरी ओर धार्मिक लोग समाजवाद को पाप-पूर्ण और इहलोक और परलोक के सुखों का विनाशक समझते हैं। उनकी दृष्टि में समाजवाद से लोग इन्द्रियों के सुख भोग विलास में सर्वथा डूब जायेंगे। परमात्मा पर भक्ति न होने से आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव न कर सकेंगे। परलोक में विश्वास नहीं रहेगा। इसलिये अच्छे बुरे सभी उपायों से संसार के तुच्छ सुख की लालसा के वश में होकर दुराचार करने लगेंगे। किसी प्रकार के धर्म बन्धन न होने के कारण विवाह की पवित्रता नष्ट हो जायगी। पारिवारिक जीवन की शान्ति का भंग हो जायगा। अब देखना चाहिये कि समाजवाद और वर्णाश्रम धर्म का परस्पर विरोध है या नहीं? और यदि है तो वह विरोध किसी प्रकार हटाया जा सकता है या नहीं? मुझे प्रतीत होता है कि इन दोनों में विरोध नहीं है और जो कुछ है भी तो वह दूर हो सकता है। समाजवाद धनिकों के अत्याचार से किसी को पीड़ित नहीं होने देता। वर्णाश्रम धर्म प्राणीमात्र का मङ्गल करने वाला है। ये दोनों विरोधी नहीं हो सकते। समाजवाद की सहायता से वर्ण-धर्म अधिक उन्नति होने लगेगा और वर्ण-धर्म से

समाजवाद पवित्र और उज्वल हो जायगा। धर्म के साथ समाजवाद की अनुकूलता दिखाने का प्रयत्न यह पहला नहीं है। वर्ण धर्म के न मानने वाले लोगों ने अपने अपने मत के अनुसार समाजवाद को धर्म-संगत करने के लिये विस्तार से लिखा है। प्राय: उन्होंने समाजवाद के मूल रूप को बिना लिये धनियों की पूंजी से चलने वाले व्यापार के भार से दबे लाखों दरिद्र मजदूरों की दशा दिखाकर पूंजीवाद की निन्दा की है। मजदूर मिलकर मशीनें खरीदें, वस्तुओं को उत्पन्न करें और बेचकर आमदनी बांट लें। इस प्रकार एक पूंजीपति का मजदूर बनने के कारण होने वाली दरिद्रता से छुटकारा हो जायगा। इस प्रकार की प्रेरणा उन्होंने की है। पर इससे समाजवाद और धर्म का मेल नहीं होता। इसमें समाजवाद का आत्मा नहीं दिखाई देता। धर्म और समाजवाद के तत्वों का जीवन देने वाला मिलाप क्रम से अगले प्रकरणों में दिखाया जायगा। इन दोनों के मेल से अभिव्यक्त होने वाले जीवन का अनुभव करने के लिए पहले अलग अलग इनके स्वरूप और प्रयोजन को पहचानना चाहिए।

वर्णाश्रम धर्म का स्वरूप और उसका प्रयोजन

मनुष्यों में कर्मों का विभाग न हो तो व्यवस्था नहीं रह सकती। प्राचीन ऋषियों ने कर्म विभाग के लिये मनुष्य समाज को चार भागों में बांट दिया है। वे चार हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। जो स्वार्थ की लालसा से हीन होकर शिक्षा देते हैं, विशाल सम्पत्ति और शासन के अधिकार नहीं चाहते, वे ब्राह्मण हैं। शासन के अधिकारी क्षत्रिय हैं शत्रुओं से रक्षा करना और संग्राम में लड़ना इनका काम है। कृषि और व्यापार करना वैश्यों का कर्म है। ऐश्वर्य की वृद्धि करना इनका काम है। ब्राह्मण के पास विद्या, क्षत्रिय के पास शासन का अधिकार, वैश्यों के पास धन है। जिनमें इन तीनों का उपयोग करने की योग्यता नहीं है वे शूद्र हैं। मुख्य रूप से यही चार वर्ण हैं। ब्राह्मण के पास न शासन का अधिकार है, न भारी ऐश्वर्य, पर प्रतिष्ठा सबसे बढ़कर है। वह राजा को भी धर्म मार्ग पर रहने के लिए चेतावनी दे सकता है। क्षत्रिय के पास अधिकार है पर ज्ञान का गौरव नहीं है। वैश्य के पास केवल सम्पत्ति है। वैश्य धनबल से किसी का अनिष्ट करना चाहे तो क्षत्रिय राज-नियम के अनुसार रोक सकता है। तीनों वर्ण शूद्र के भरण पोषण का ध्यान रखते हैं। इसलिए उन्हें जीवन को सुख शान्ति के साथ बिताने में कष्टों का सामना नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार शरीर के लिए सभी अंगों का अपने काम में समर्थ होना आवश्यक है उसी प्रकार मनुष्य समाज के लिए सब वर्ण आवश्यक हैं। अंगों के समान कोई वर्ण निन्दनीय नहीं है। इस क्रम से सब वर्ण अपने धर्म का पालन करते रहें तो कोई भी दुःखी नहीं हो सकता। समाज की रक्षा के लिये यह वर्ण विभाग है।

व्यक्ति के जीवन में अभ्युदय और पारलौकिक सुख को प्राप्त करने के लिये आश्रम व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य, गृह, बानप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम हैं। चौबीस पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का काल है। इसमें शिक्षा प्राप्त करके काम करने योग्य बनता है। पचास वर्ष तक गृहाश्रम का काल है इसमें प्रत्येक वर्ण भोग के लिए धन कमाता है। समाज रक्षा के लिये संतान उत्पन्न करता है। इसके अनन्तर बानप्रस्थ है। इस दशा में धन कमाने का भार पुत्रों पर आ पड़ता है वे माता पिता का पालन करते हैं। बिना वेतन के अपने ज्ञान से समाज की सेवा करनी होती है। चौथा है संन्यास। इसमें एक स्थान पर न रहकर घूमना होता है। सन्यासी जहां जाता है वहां धर्मोपदेश से जनता का हित करता है और राग द्वेष से रहित होकर आत्म चिन्ता करता है।

वर्ण व्यवस्था कर्मानुसार है। वर्ण के स्थिर करने में जन्म का प्रभाव भारी है पर प्रधानता कर्म की है। यदि ब्राह्मण की संतान अपने धर्म का पालन न करे तो उसे उस वर्ण में रहने का अधिकार नहीं है। केवल जन्म पर वर्ण व्यवस्था करने से समाज की शान्ति में विघ्न होने लगता है। ब्राह्मण के घर उत्पन्न हुए हैं और काम शूद्र के हैं। उन्हें ब्राह्मण पद पर बैठा देने से लोग न्याय के मार्ग पर नहीं चल सकते। ब्राह्मण का पुत्र कर्म से यदि ब्राह्मण हो तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

वर्ण व्यवस्था का महत्व यह है कि इससे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और और उससे उन्नत होने के साधन मिलते हैं। मनुष्य को पहली आवश्यकता शरीर की है उसके लिए प्रत्येक वर्ण के भिन्न भिन्न काम नियत कर दिए हैं। जिनसे धन कमाया जा सकता है। पढ़ाने और यज्ञादि कराने से दक्षिणा मिलती रहे और उचित दान आता रहे तो

ब्राह्मण के लिए भूख दुःख का कारण नहीं बन सकती। क्षत्रिय शासन के विविध कार्य करके द्रव्य-लाभ करता है। वैश्य का मुख्य रूप से द्रव्य पर अधिकार है ही। शूद्र न पढ़ा सकते हैं न यज्ञ से उन्हें दक्षिणा मिलती है। व्यापार उनके हाथ में नहीं। पर श्रम करके कुटुम्ब के निर्वाह के लिए उन्हें भी धन मिल जाता है। दूसरी आवश्यकता है पीडन से बचाने की। यह अधिकार और धन को दो स्थानों में रखकर पूरी की गई है। धन और अधिकार एक स्थान पर हो जायें तो निर्धन के कष्ट पाने की संभावना बढ़ जाती है। क्षत्रिय के पास अधिकार है पर उसे विद्वान् ब्राह्मणों की सम्मति से चलना होता है। वह मनमाने ढंग से काम नहीं कर सकता। प्रतिष्ठा सबको चाहिए। वह ब्राह्मण को अधिकार और धन न होने पर भी सबसे अधिक प्राप्त है। शासन नियमों की रचना उसके विचार से होती है। अधिकार और धन से क्षत्रिय और वैश्य प्रतिष्ठा पाते हैं।

वर्ण धर्मों के अलग अलग नियत करने से एक और लाभ है। जीवन भर एक काम में लगे रहने से कौशल आ जाता है। एक ही मनुष्य कभी कुछ कभी कुछ करे तो किसी में प्रवीण नहीं हो सकता। इस अभिप्राय से गीता में कहा है कि मनुष्य अपने अपने कर्म में निरत रहे तो सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

आश्रम व्यवस्था भी विषय सुख की लालसा को मर्यादा में रखकर वर्णों में परस्पर विरोध नहीं उत्पन्न होने देती। गृहाश्रम में पचीस वर्ष तक धन कमाने का अधिकार है। इसके पीछे कमाने से छुट्टी मिल जाती है। यदि भोग लालसा को बढ़ने दिया जाय तो इसका मृत्यु के अन्तिम क्षण तक अन्त नहीं हो सकता। लोग बुढ़ापे में भी निरन्तर कमाते रहें तो स्पर्धा बढ़ जायेगी। जो युवा गृहस्थ बने हैं उन्हें काम के लिए

स्थान नहीं मिलेगा। काम न कर सकने से उनका अनुभव न बढ़ सकेगा। बूढ़े काम को छोड़ दें तो उन्हें सन्तोष से समाज की सेवा का अवसर मिलेगा और नव गृहस्थों को जीविका की चिन्ता न रहेगी।

ईश्वर संसार की रचना करता है। पूर्व जन्म के कर्मों का फल देने के लिए वह नया जन्म देता है। भगवान् के गुणों का चिन्तन और उसमें मन के एकाग्र करने से मनुष्य उत्तम शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। ईश्वर भक्ति सुख का मूल है। वर्ण और आश्रमों का यह सामान्य धर्म स्मृतियों में कहा है। जिन स्मृतियों ने वर्ण और आश्रमों का विधान किया है उन्होंने ही ईश्वर भक्ति आदि सामान्य धर्मों का उपदेश दिया है।

सहायक साधारण धर्मों के सम्बन्ध के बिना वर्ण व्यवस्था का शुद्ध रूप है—**मनुष्यों का अपनी सहज भिन्न शक्तियों के अनुसार समाज के हित के लिए भिन्न भिन्न कर्मों का आचरण**। यह शुद्ध वर्ण धर्म समाज के लिए सदा कल्याण-कारी है। इसके बिना समाज सर्वांगीण उन्नति नहीं कर सकता इस शुद्ध वर्ण धर्म के साथ नाना कालों में होने वाली स्मृतियों ने कई अन्य तत्वों का समावेश वर्ण व्यवस्था में किया है। वह सब उचित नहीं कहा जा सकता है। और न ही वह वर्ण व्यवस्था का आवश्यक धर्म है। तर्क का तिरस्कार करके स्मृति का वाक्य होने भर से कोई चाहे श्रद्धा कर ले पर इतने में औचित्य को प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त वर्ण धर्म की सहायता के लिए जिन धर्मों का विधान स्मृतियों में है वह सहायक होने पर भी अपरिहार्य हैं या नहीं? सहायक हैं तो कितनी सहायता उनसे मिलती है? इन सहायकों के बिना भी वर्ण व्यवस्था का पालन सम्भव है तो किस प्रकार? इन सब विषयों का विचार प्रसंग के अनुसार होगा।

समाजवाद का स्वरूप और उसका प्रयोजन

मनुष्यों का वह समूह समाज कहा जाता है जिसके व्यक्ति परस्पर के हित की सिद्धि करने वाले कामों को करते हैं। वे लोग जो अपने सुख के लिए दूसरों को हानि पहुंचाते हैं मिलकर इकट्ठे खड़े हो जायें तो उन्हें समाज नहीं कह सकते। समाज के सुख की उपेक्षा करने वाले लोगों की भीड़ होती है। शरीर के अंगों के समान उनमें आपस की आवश्यकता के कारण सम्बन्ध नहीं होता। समाज बन सके कोई किसी को दुःख न दे सके, इसलिए व्यवस्थाओं की रचना की जाती है। प्राचीन काल से लेकर अब तक अनेक प्रकार की व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ है। पर समाज नहीं बन सका। बलवान् दुर्बलों को दबा कर अत्याचार करते रहे हैं। धनी निर्धनों को गाड़ी में जोतकर मद में झूमते हुए विहार करते रहे हैं। दरिद्र भूख से पीड़ित होकर एक एक दाने के लिए भटकते रहे और संपन्न लोग रेशमी वस्त्रों से सजे पलंगों पर अलसाए पड़े रहे हैं। एक ओर पीड़ित अपमानित भूख से व्याकुल लाखों करोड़ों लोगों का मर्मभेदी हाहाकार होता रहा है और दूसरी ओर इने गिने लक्ष्मी के बटोरने वाले लोगों की मण्डली में वीणा की मधुर ध्वनि गूंजती रही है। मृदंग की लय के साथ नूपुरों की झनकार होती रही है। हजारों वर्षों से यही होता आ रहा है। आज भी पीड़ितों की संख्या कम नहीं हुई। उलटी बढ़ गई है।

भारत में देखिये या किसी दूसरे देश में। सब जगह परस्पर कलह है, किसान खेती करते हैं पर खेतों पर उनका अधिकार नहीं। प्रचण्ड धूप में, झुलसने वाली लू में हल चलाते हैं, शीत काल की रातों में सुन्न कर देने वाली सर्दी सहकर खेतों की रक्षा करते हैं पर जब खेतों में जीवन आ जाता है तब उनके

देखते देखते सारा अन्न दूसरे उठा लेते हैं। उनके परिवार को भरपेट रोटी नहीं मिलती। भूस्वामी गगनचुम्बी महलों की रचना किसानों के उत्पीडन से करता है। पीडित किसान भी अपनी शक्ति के अनुसार हानि पहुँचाने की इच्छा करता है। पर उसका यत्न सफल नहीं होता। जहां किसान खेत की उपज का स्वयं स्वामी है दूसरा छीनने वाला नहीं है वहां वह भी अधिक धन कमाने की लालसा से अन्न को मँहगा करने का यत्न करता है। भले ही दरिद्र लोग न खरीद सकने से भूखों रहें। उसे कोई चिन्ता नहीं। उस समय किसान अपने आप खेती न करने वाले भूस्वामी से कम क्रूर नहीं होता। मिल के मजदूर दिन भर काम करके थके हारे सायं घर लौटते हैं। उन्हें इतना वेतन नहीं मिलता जिससे दो समय उन्हें और उनके बच्चों को उचित भोजन मिल सके। मिल को एक बार खड़ा करके मिल का स्वामी उंगली नहीं हिलाता और रुपये खिंचे चले आते हैं। हरेक व्यापारी अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। सब अपने लाभ का ध्यान मुख्य रूप से करते हैं। दूसरों के सुख की चिन्ता किसी को नहीं।

मिल कोयले की खान या खेतों के स्वामी और कर्मकर मजदूरों के समान जिनका परस्पर अश्रित और आश्रय रूप से सम्बन्ध नहीं है वे भी दूसरों से द्वेष रखते हैं। हाथ से काम करनेवाले कारीगरों को लीजिये। वे अपनी बनाई वस्तुओं को मँहगे दामों बेचना चाहते हैं। खरीदने वालों का यत्न सस्ते दामों में लेने का होता है। एक रुपये की वस्तु का मूल्य बेचने वाला चार पांच या जितना अधिक मिल सके उतना लेना चाहता है। ग्राहक चाहता है बारह, दस, छह या चार आने में ही मिल जाय। दुकानदार और ग्राहक में स्वामी और कर्मकर का सम्बन्ध नहीं पर विरोध तीव्र है। श्रमी और श्रम

के खरीदने वालों का झगड़ा कहीं समाप्त नहीं होता। रेलवे स्टेशनों पर कुली मजदूरी अधिक चाहते हैं और यात्री कम। आपस का यह वैर भिन्न वर्गों में ही नहीं है। एक वर्ग के लोग भी परस्पर बहुत झगड़ते हैं। मजदूरों में देख लीजिये। काम की कमी के कारण प्रत्येक मजदूर चाहता है मुझे काम मिल जाय और दूसरे निकम्मे रहें। दर्जियों में स्पर्धा रहती है। दूसरे के पास कोई न जाय सब उसीसे वस्त्र सिलायें। इस इच्छा से एक कुछ कम मूल्य में भी सीता है। दूसरों की सिलाई में अनेक त्रुटियां दिखाता है। प्रतिदिन की इस स्पर्धा में कुछ इने गिने आगे बढ़ जाते हैं। उनकी दुकान चमक उठती है। जो पीछे रह जाते हैं वे काम के लिए इधर उधर मारे मारे फिरते हैं। कई बार अपमानित होते हैं। डाक्टरों और वकीलों में स्पर्धा का उग्र रूप मूर्तिमान् होकर खड़ा है। जो अपने विषय के ज्ञान और व्यवसाय-कौशल से प्रसिद्ध होगये हैं उन्हें बात करने का अवसर नहीं मिलता। कइयों को दरिद्रता में पिसना पड़ता है। बहुत से वैद्य डाक्टर चाहते हैं रोग तीव्र रूप से फैलने लग जांय या अन्य डाक्टरों की दुकानें बन्द हो जायें। इसी प्रकार अनेक वकील भी लोगों का झगड़ना अच्छा समझते हैं। लोग झगड़ें न तो उनका जीवन कठिन हो जाए। हर एक बिना दूसरे को दबाये जीना असम्भव समझता है। नाना वर्गों में और एक ही वर्ग के अनेक मनुष्यों में परस्पर के विरोध का यह प्रधान कारण है। जबतक समाज की इस अवस्था को दूर नहीं किया जाता तब तक सुख और शान्ति नहीं हो सकती। विशाल सम्पत्ति तो दूर रही पेट भरना भी हजारों लाखों के लिए दूसरों के मुख का ग्रास बिना छीने कठिन हो रहा है। अध्यापक और राज्य के विविध विभागों में लेखक आदि का कार्य करने वाले मध्य श्रेणी के लोगों का भी जीवन कष्ट-पूर्ण है।

ये लोग शहरों में रहते हैं। प्राय: अपना मकान न होने से इनको किराए के मकानों में रहना पड़ता है। वेतन कम होता है इसलिए कम किराए के मकानों में रहते हैं। उनमें उठने बैठने की पूरी सुविधा नहीं होती। उचित मात्रा में बल-प्रद खाद्य वस्तुओं को न खरीद सकने से बलवान् नहीं बन सकते। बच्चे भी आवश्यक भोजन न मिलने से दुबले पतले रहते हैं। बहु-मूल्य चिकित्सा की भारी फीस नहीं दे सकते। इसलिए अच्छी चिकित्सा रोगी होने पर भी नहीं करा सकते। शिक्षा के लिए आज कल बहुत खर्च करना पड़ता है। उसे करने में असमर्थ होने से हजारों प्रतिभाशाली बालक ज्ञान से वञ्चित रह जाते हैं।

समाज की वर्तमान दशा इस प्रकार की है जिसमें सब सशंक रहते हैं। अवसर पाकर कोई भी दूसरे को दबाने से नहीं चूकता। जो अन्याय और अत्याचार के इस संग्राम में टिक नहीं सकते उन्हें शरीर का श्रम करके नाममात्र की मज-दूरी लेनी पड़ती है। उसी में अपना और परिवार हो तो उसका भी निर्वाह करना पड़ता है। अन्य प्राणियों के समान जब मनुष्यों में भी एक जीव दूसरे जीव का भोजन हो तो दया और न्याय कैसे रह सकते हैं। भेड़िये खरगोशों के साथ दया और न्याय का व्यवहार नहीं करते। इस दशा में न्याय परोपकार आदि की भावना न धनियों में रह सकती है न निर्धनों में। अत्याचार का बीज वर्तमान व्यवस्था है, मानव का आत्मा नहीं। निर्धन किसी कारण से कभी पूंजीपति बन जाते हैं तो वे भी अन्याय करने लग जाते हैं। भाड़े के मकान में रहने वाला यदि मकान का स्वामी बन जाये तो वह भाड़ा देने वाले लोगों के दु:खों की अवहेलना करने लग जाता है। इस असंगत विषमता से भरी व्यवस्था के हटाने का साधन है समाजवाद।

पराये श्रम के फल से हटाकर, केवल अपने श्रम के फलपर स्वत्व का प्रतिष्ठित करना समाजवाद है। कर्ता को अपने ही कर्मों का फल मिलना तर्क संगत है। लोग जो काम करे उसी का वेतन पाना न्याय की बात समझते हैं। देवदत्त महीना भर काम करता रहे और महीने के अन्त में यज्ञदत्त वेतन ले जाय यह सब के विचार में अन्याय है। इस लोक प्रसिद्ध नियम का अतिक्रम जब होने लगता है तब दुःख बढ़ने लगता है, पर इस नियम के साथ साथ व्यवहार में कई स्थानों पर इसके विरोधी रूप को भी उचित माना जाता है। इसलिए व्यवस्था नहीं बनने पाती। अध्यापक का वेतन कोई दूसरा ले इसे कोई उचित नहीं समझता। जिसने भार उठाया है उसे ही मजदूरी देते हैं। पर किसान खेतों में काम करें तो उपज पर भू-स्वामी का अधिकार किसी की दृष्टि में अनुचित नहीं है। यह प्रत्यक्ष ही किसान के काम के फल पर काम न करने वाले भू-स्वामी का अधिकार है। वस्तुतः वह स्वत्व नहीं, स्वत्व का अपहरण है। कपड़ा आदि कर्मकर लोग बनाते हैं पर उन्हें कम मूल्य देकर मँहगे भाव पर बेचकर धनियों का विशाल सम्पत्ति संचित करना इसका एक और दृष्टान्त है। कर्मचारियों को पूरी मजदूरी दी जाय तो चुपचाप गद्दी पर बैठने वालों को लाभ नहीं मिल सकता। पांच रुपये का काम करा के एक रुपया कर्मचारी को देकर चार रुपए का लाभ मिलता है। लाभ पर अकर्ता का बल-पूर्वक अधिकार है। लाभ उठा कर धनी बनने वाले लोग शहरों में मकान बनवा लेते हैं और उन्हें भाड़े पर देते हैं। इससे धन राशि में वृद्धि होती जाती है। पूंजी पर स्वत्व न होने से पूंजी द्वारा उत्पन्न होने वाले धन पर भी स्वत्व नहीं है, पर आजकल की व्यवस्था में स्वीकृत है।

चोर डाकुओं का चुराये और लूटे पदार्थों पर अधिकार नहीं माना जाता। इसका कारण उन पदार्थों का चोर डाकुओं के श्रम से उत्पन्न न होना है। जो तर्क यहां है वह पूंजी और उससे उत्पन्न होने वाली संपत्ति पर भी समान है। लाभ उठाना बन्द करके अपने ही काम के फल पर अधिकार निश्चित कर दिया जाय तो किसी को दरिद्रता न सताएगी। एक अत्यन्त धनी और दूसरा अत्यन्त निर्धन न होगा। यह भारी विषमता न रहेगी। सब अपनी शक्ति के अनुसार काम करेंगे और काम के अनुसार फल पायेंगे। शक्ति-भेद और काम का भेद रहेगा और इसलिए फल के स्वत्व का भेद भी रहेगा। पर इससे घातक विषमता न होगी। जिन कामों के करने वाले व्यक्ति हैं उनका फल व्यक्तियों को मिलेगा और जिनको एक दो नहीं अनेक करते हैं उनके फल पर समाज का अधिकार होगा समाज की संपत्ति पर व्यक्ति का अधिकार अनुचित है। विशाल भूमि में एक के श्रम से उपज नहीं हो सकती। उसमें समुदाय श्रम करता है इसलिए समुदाय स्वामी होगा। समुदाय में उपज का विभाग होने से बिना श्रम के कोई पूंजीपति न बन सकेगा। बड़ी बड़ी मिलों और कारखानों में बहुत मनुष्य काम करते हैं। उनका भी एक स्वामी नहीं हो सकता। एक उस संपत्ति का अधिकारी नहीं बनेगा जिसके द्वारा श्रम के बिना या नाम मात्र के श्रम से दूसरों को बाधित करके दरिद्र बनाया जाता हो। शहरों के लिए सड़क बनाना, पानी और प्रकाश पहुँचाना, जंगल का प्रबन्ध करना, इत्यादि कामों के समान मिल, कारखाने और रेल बैंक आदि राज्य के हाथ में रहेंगे। राज्य समाज का होगा इसलिए पदार्थों की उत्पत्ति के बड़े बड़े साधन और उनसे प्राप्त होने वाली संपत्ति का स्वामी समाज होगा। कोई जुलाहा अपने करघे आदि का और दर्जी सुई, धागा, सीने की मशीन आदि

का स्वामी हो सकता है। इनसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं पर उसके लिए जुलाहे वा दर्जी को अपने हाथों से श्रम करना पड़ता है दूसरे के हाथों से नहीं। श्रमहीन लोगों के पास अपार धन न रहने से समाज का राज्य अपरिमित धन का स्वामी हो जायगा। फिर वह सब लोगों के लिए जीविका, निवास, चिकित्सा, शिक्षा आदि का उत्तम प्रबन्ध कर सकेगा। सब को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर होगा। सब अपने ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार काम करेंगे। काम ढूंढ़ने के लिए आजकल के लोगों के समान भटकना नहीं होगा। राज्य काम देगा। समाज के शासन में पूंजीपतियों का उन्मत्त विलास और भूखों का हाहाकार न होगा। लक्ष्मी और सरस्वती का देर से चला आता विरोध मिट जायगा।

आजकल प्राकृतिक विज्ञान की अत्यन्त उन्नति हुई है। रेल और विमानों से कुछ ही काल में बहुत दूर पहुँच जाते हैं। कृषि विज्ञान से पहले की अपेक्षा अधिक उपज हो सकती है। अनेक रोगों की सुगमता से चिकित्सा की जा सकती है। यंत्रों के द्वारा वस्त्र बर्तन आदि की उत्पत्ति विशाल परिमाण में होती है। प्रत्येक प्रकार के सुख साधनों के होने पर भी करोड़ों को भर पेट अन्न नहीं मिलता। सर्दी गर्मी में नंगा रहना पड़ता है, औषधियों के भण्डार भरे रहते हैं और लाखों लोग बिना दवाई के मर जाते हैं। भूखे अनाश्रित भारी संख्या में रात को सोने के लिए टूटी कुटिया नहीं पा सकते और सड़कों के दोनों ओर वा खुली भूमि पर आकाश के नीचे पड़ जाते हैं। आज के आविष्कारों से लाभ समाज के राज्य में सबको मिलेगा। भूखे

ललचाई आंखों से संपन्न के स्वादु भोजन की ओर न देखेंगे। अपहरण के उठ जाने से प्रबल की क्रूरता और पीडित की प्रतिकार करने के लिए लालसा का उच्छेद हो जायगा। एक का काम दूसरों को गिराने का नहीं, उठाने का होगा। परस्पर अंग बन कर रहना होगा। इस प्रकार समाजवाद मनुष्यों के समाज की रचना का प्रधान कारण है।



समाजवाद की अपरिहार्यता

समाजवाद का जो प्रयोजन है वह अन्य उपायों से नहीं सिद्ध होता। वर्णाश्रम धर्म समाजवाद को निष्प्रयोजन नहीं कर सकता। जो लोग समाजवाद को नहीं मानते उनका कहना है धर्म मनुष्य के सब दुःखों को दूर कर सकता है। धर्म सबको ऐश्वर्य और आत्मा का उदात्त सुख देने वाला है। धर्म अन्याय और अत्याचार नहीं होने देता। आजकल लोग धर्म का पालन उचित रूपसे नहीं करते इसलिए अशान्ति है। लोग झूठ बोलते हैं ईश्वर के भक्त नहीं हैं। झूठ महापाप है। क्या धनी क्या निर्धन किसी को झूठ बोलने में संकोच नहीं। भगवान् की भक्ति के बिना सुख नहीं मिल सकता। धनियों को दरिद्रों पर दया रखनी चाहिए। यदि धनी निर्धनों का पालन करने लग जांए तो विरोध न रहे। पर-पीड़न महा पाप है। परमेश्वर अन्याय से धनार्जन करने वाले को दण्ड देते हैं। ईश्वर को न्यायकारी समझें तो धनी किसी को भूखा नंगा न बनायें। वर्ण और आश्रमों का यह सामान्य धर्म है। जो वर्ण और आश्रम की व्यवस्था को नहीं मानते वे भी इन सामान्य धर्मों को कर्तव्य समझते हैं। इस्लाम और ईसाई मत में इसी प्रकार का विधान है। जो संसार के कर्ता परमेश्वर को नहीं मानते उन मतों में ईश्वर-भक्ति के बिना दया, दान, सत्य आदि सामान्य धर्मों के अनुष्ठान का उपदेश है। जैन और बौद्धमत इसके उदाहरण हैं।

ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी मतों का, वस्तुतः मनुष्य मात्र का, सामान्य धर्म धन के विषम विभाग को नहीं रोकता। इस कारण धन के वैषम्य से होने वाले पर-पीडन को नहीं हटा

सकता। लोग ईश्वर को न्यायकारी मानते हैं। अपने अपने मत के अनुसार उसकी उपासना करते हैं। झूठ बोलना उनके विचार में महापाप है। पर जब उदर भरने की चिन्ता सामने आ खड़ी होती है तब सर्वव्यापक न्यायकारी ईश्वर की उपेक्षा कर जाते हैं। परमेश्वर देख रहा है मिथ्या व्यवहार का फल भी देगा पर करते समय पुलिस के सिपाही के समान हाथ नहीं पकड़ता। ईश्वर का दण्ड जब गिरेगा तब गिरेगा। प्रत्यक्ष भय नहीं है। इस दशा में ईश्वर विश्वास दुर्बल के पीडन को नहीं हटा सकता। चोर डाकू और झूठ बोलने वाले लोग प्रायः ईश्वर पर विश्वास रखते रखते अपना काम करते हैं। ईश्वर का डर किसी बिरले को अन्याय से रोकता है। बड़े बड़े धनी भगवान् के भक्त होते हैं। भूखों को अन्न और वस्त्र देने के लिए अन्न क्षेत्रों का प्रबन्ध करते हैं। नगरों में यात्रियों के लिए धर्मशाला बनवाते हैं। कोई रोगियों की बिना मूल्य चिकित्सा के लिए औषालय खोलते हैं। भगवान् का नाम स्मरण करते बहुतों के आंसू बहने लगते हैं। शरीर में रोमांञ्च हो जाता है। माला लेकर जप करते घण्टों बैठे रहते हैं। फिर भी ऋणी को मकड़ी के समान वृद्धि के जाल में फँसा कर रुधिर पीने से कोई नहीं रुकता। इस लोक में धनी प्रत्यक्ष संसार के सुखों का भोग करता है और दरिद्रों को दान देकर परलोक के सुख का प्रबन्ध सुरक्षित कर लेता है। दरिद्र के दोनों लोक चले जाते हैं। धर्म प्रचार करने वाले संघ धनियों का आदर करते हैं। पुजारी मन्दिरों में सधारण लोगों को पीछे हटा कर सेठ साहूकारों को बड़े आदर से भगवान् का दर्शन कराते हैं, और दलितों के उद्धार और शिक्षा प्रचार आदि कार्य करने वाले समाजों के नेता धनी लोगों से प्रधान और मन्त्री पद स्वीकार करने के लिए निरन्तर

प्रार्थना करते रहते हैं। धर्म प्रचारक सभाओं में ऊँचा आसन धनवानों का है निर्धन ईश्वर भक्तों वा पंडितों का नहीं। धर्म प्रचार धन के बिना हो नहीं सकता इसलिए विवश होकर उन्हें धनियों की प्रशंसा करनी पड़ती है। महाभारत में प्राचीन आचार्य ने कहा था धर्म से अर्थ काम दोनों मिलते हैं। इतने पर भी धर्म की सेवा क्यों नहीं करते हो? पर आज तो अर्थ से धर्म और काम की प्राप्ति होती है। दरिद्रता न धनी की ईश्वर भक्ति से हटती है न दरिद्र की। पत्थर चाहे पिघल जाय पर भूखे का हाहाकार निर्विकार ईश्वर को नहीं छू सकता। कभी किसी दीन ने पुकार पुकार कर अन्न की मुट्ठी पाली तो इससे लाखों पीड़ितों का कष्ट दूर नहीं हो जाता।

दान और दया से भी दरिद्रता नहीं मिट सकती। पांच दस को दान से संपन्न, खाने पीने की चिन्ता से मुक्त किया जा सकता है पर करोड़ों की भूख नहीं दूर हो सकती। धनी सबको अन्न वस्त्र देगा तो स्वयं दरिद्र हो जायगा। दान दाता की इच्छा के अधीन है चाहे तो दे न चाहे तो न दे। लोक निन्दा की उपेक्षा करके धनी कृपण बन जाय तो दरिद्र का कोई सहायक नहीं रहता। राज्य के नियम से दान के लिए विवश नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त दान देने पर भी दरिद्र का संताप दूर नहीं हो सकता। दान के अनेक कारण होते हैं। देश काल और पात्र का विचार करके शक्ति के अनुसार दिया जाय बदले में किसी सहायता के लेने का विचार न हो तो सात्विक दान है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए जो दिया जाता है वह राजस है। सत्कार के बिना अवज्ञा के के साथ देश काल और पात्र की उपेक्षा करके जो देते हैं उनका दान तामस होता है। सात्विक दान से दीन का जो लाभ होता है, दीन के खाने-पीने आदि का कष्ट दूर होता है वह

स्पष्ट है। दाता को भी इससे लाभ पहुंचता है। इससे धनी दूसरों को अपना अङ्ग समझता है उसकी आत्मा शुद्ध, स्वार्थ के बन्धनों से मुक्त हो जाती है। पर शुद्ध सात्विक दान सदा बहुत कम रहता है। प्राय: प्रत्युपकार के विचार से दान दिया जाता है। और कई तो तिरस्कार के साथ तामस दान देते हैं। तिरस्कार कर दान देने से देने वाला तो क्षुद्र बनता ही है दरिद्र को भी अपमान जलाता रहता है। इससे दोनों में प्रेम नहीं उत्पन्न होता। लेने वाला जब दाता की स्वार्थ बुद्धि को समझ लेता है तब उस राजस दान को वह क्रय-विक्रय का वस्तु मानने लगता है। एक ने दान दिया दूसरे ने उसका काम पूरा कर दिया। शरीर या बुद्धि के श्रम से धन बढ़ाने में सहायता कर दी। आजकल दान का एक और कारण भी है। धनी समझते हैं दरिद्र बढ़ते जा रहे हैं। संभव है अत्यन्त दुःखी होकर किसी समय मिलकर विद्रोह करदें लूट मचादें, लड़ते लड़ते मर जांय या मार दें। इस विचार से वे कभी कभी इतना दे देते हैं जिससे शरीर से प्राण न निकलें। यह निन्दनीय स्वार्थ आजकल की उपज है। पहले लोग इससे कितना काम निकलेगा यह सोच कर देते थे, जितना दरिद्र को चाहिए उससे कम भी देते थे पर आपन्न की दरिद्रता को स्थिर रखना उचित नहीं मानते थे। एक दो का दृष्टान्त मिल सकता है पर प्राय: यश का लोभ दान का कारण रहा है। कुछ भी कारण रहे, स्वार्थ की भावना से दान अर्थ कष्ट से पीड़ित को कुछ काल का सहारा हो सकता है। विपत्ति से छुटकारा नहीं दिला सकता। प्रेम का वह कारण नहीं जिससे धनी और निर्धन परस्पर अङ्ग बन सकें। सात्विक दान से आत्मा का विकास होता है, आत्म भाव बढ़ता है, निर्धन और धनी एकता का अनुभव करने लगते हैं। पर धनी बहुत कम होते हैं और निर्धन अत्यन्त अधिक।

दस बीस सात्विक दानी सौ दो सौ को सुखी निश्चिन्त बनाकर अपने आत्मा के रूप में कर सकते हैं। लाखों करोड़ों दरिद्रों को दान नहीं दिया जा सकता। उनके साथ स्व और पर का भेद नहीं मिटाया जा सकता। वस्तुतः दान सात्विक हो या राजस उसमें दरिद्रता के नाश करने का सामर्थ्य नहीं है। कारण, दान का जन्म दरिद्रता से है। एक बहुतों को श्रम का कम मूल्य देकर जब तक बड़ी संपत्ति न इकट्ठी कर ले तब तक धनी दाता नहीं बन सकता। पहिले दरिद्र बनाते हैं फिर दान देते हैं। इस दशा में दरिद्रता का नाश असभव है।

धनी भगवान् का भक्त हो, सन्ध्या अग्निहोत्र का करने वाला हो, ब्याज पर ब्याज लेकर ऋणी के घर को न बिकवाता हो, पराई बहू-बेटियों को संमान की दृष्टि से देखता हो इतना हो सकता है। यश और पुण्य अर्जन करने के लिए कूप. धर्मशाला और औषधालय बनवा सकता है। साधु त्यागी महात्माओं के समान दीनों का दुःख देखकर कातर हो सकता है। पर न चाहते हुए भी दूसरों को दबाये बिना धन राशि नहीं संचित कर सकता। चार का काम लेकर एक न दे तो लाभ कहां से होगा। हजारों लाखों का तो क्या करोड़ों अरबों का दान दरिद्रता का विनाश नहीं कर सकता। दान अब भी कम नहीं होता पर पीडितों की संख्या बढ़ती जा रही है।

ईश्वर भक्ति और दान के समान संतोष को समाज की समृद्धि और मनुष्योंकी दरिद्रता के निवारण का उपाय कहा जाता है। यत्न करने पर जो मिले उसमें सुख से रहना संतोष है। जो कुछ मिले उसे कम ही समझे और प्रचुर संपत्ति की लालसा करता रहे तो सताप ही बढ़ेगा। सतोष से कम में प्रसन्न रह सकता है और लालसा से व्याकुल हजारों मकानों मिलों का स्वामी होकर भी सुख की नींद नहीं ले सकता। सोना चांदी और

रत्नों का ढेर धनी नहीं बनाता। मनुष्य संतोष से धनी होता है। संतोष का यह स्वरूप लालसा के कारण प्रतीत होने वाली दरिद्रता को दूर करता है। वह दरिद्रता वास्तव में बाहर नहीं है, मान ली है। खाने-पीने को है, मकान है, बच्चे प्रसन्न नीरोग हैं। फिर भी समझता है कुछ नहीं है। दस नहीं पचास मकान चाहिए। दस पन्द्रह नहीं सौ सेवकों के बिना काम नहीं चल सकता। यह भ्रम दरिद्रता उत्पन्न कर रहा है। संतोष से भ्रम-मूलक दरिद्रता दूर हो जाती है। यत्न का फल मिल रहा है कोई चिन्ता नहीं इतना समझते ही चित्त शान्त हो जाता है।

जहां दरिद्रता कल्पित न हो वास्तव में हो वहां संतोष निष्फल है। बिच्छू के काटने का भ्रम हो गया हो तो युक्तियों से समझा बुझाकर दुःख दूर किया जा सकता है। सचमुच बिच्छू के काट लेने पर समझाने से कोई फल नहीं निकलता। उसके लिए औषधि चाहिए। कोई साधारण पीडा हो तो बातों में उड़ाई जा सकती है पर तीव्र वेदना का प्रतिकार कल्पना की मोहनी से नहीं हो सकता। धनियों को संतोष से लाभ होता है। भूखे रोगी की दरिद्रता संतोष से नहीं मिटती। मकान न होने से नींद नहीं। उदर में भूख की आग जल रही है। बच्चे दुर्बल हैं। बार बार रोग दबा लेता है। संतोष कहां से हो? निर्धन संतोष से धनी बनकर विरोध नहीं छोड़ सकते। पीडित दरिद्र को संतोष की अविद्या में डालना अन्याय है। यह हो भी नहीं सकता। यही कारण है कि श्रमी असंतुष्ट होकर धनियों के काम में विघ्न डालने लगते हैं या आपस में ही एक को दूसरा दबाने की चेष्टा करता है।

वर्ण और आश्रमों का असाधारण धर्म भी धनी और दरिद्र के वैषम्य और उससे उत्पन्न वैर को नहीं रोक सकता। ब्राह्मण को क्षत्रिय और वैश्य उत्कृष्ट मानकर चलते रहें तो कोई क्लेश नहीं

हो सकता। दक्षिणा और प्रतिग्रह से विद्वान् ब्राह्मणों को जो कुछ मिलता है उससे उनका निर्वाह हो जाता है अधिक संग्रह की ओर उनकी रुचि नहीं होती। इसलिए निर्भय होकर क्षत्रिय को अधिकार का और वैश्य को संपत्ति का दुरुपयोग करने पर दण्डनीय ठहरा सकते हैं। ब्राह्मण जब कुटुम्ब के पालन के साथ धन भी प्रचुर परिमाण में चाहता है तब उसे अधिकारी और धनी की कृपा पाने के लिए यत्न करना पड़ता है। फिर वह दुर्बल की अधिकारी और धनी के अन्याय से रक्षा नहीं कर सकता। ब्राह्मण को जीविका के लिए क्षत्रिय और वैश्य की अपेक्षा करनी पड़ती है। इस दशा में यदि क्षत्रिय और वैश्य ब्राह्मण की अवज्ञा करके अधिकार और धन से लोगों का अनिष्ट करने लगें तो रक्षा कौन करेगा। वर्ण धर्म विशेष रूप से मनुष्य के कर्तव्य पालन पर आश्रित है। अधर्म की ओर जाने से रोकने के लिए प्रबल साधन उसमें नहीं है। आजकल पूंजीपतियों के कारण निर्धनों की संख्या बहुत है इन दरिद्रों के पास कुछ नहीं है। न ज्ञान न अधिकार, और न धन। हजारों लाखों मजदूरों का श्रम खरीदकर पूंजीपति हजारों भुजाओं से धन इकट्ठा करता चला जाता है। वह त्यागी धर्म वेत्ता विद्वान् ब्राह्मणों की उपेक्षा करता है। दरिद्र लोग ब्राह्मण को कुटुम्ब की चिन्ता से मुक्त नहीं कर सकते। भूखा ब्राह्मण जानता हुआ भी अधर्म को अधर्म नहीं कह सकता। इसके अतिरिक्त कह देने भर से दरिद्र का विपत्ति से छुटकारा नहीं हो सकता। जीविका के लिए आश्रित विद्वान् चुप रहते हैं या धनी के कर्मों की प्रशंसा करते हैं। कुछ निस्पृह ब्राह्मण अधिकारी या धनी के अन्याय का तिरस्कार निर्भय हो कर करते हैं, पर अन्याय होता रहता है। हीन कोटि का श्रम करने वाले बहुमूल्य काम करके पेट नहीं भर सकते। साफ घर में नहीं रह सकते। बच्चों को शिक्षा नहीं दिला सकते। पर्याप्त धन न

मिलने के कारण जिनके हाथ में अधिकार है वे लोगों को भय और पीडा देकर संपत्ति छीनते हैं। बुद्धि के श्रम से जीने वाले अर्थ-कष्ट होने से ब्राह्मण धर्म का पालन करने में असमर्थ हैं। जीवन को स्थिर रखने के लिए ज्ञान-जीवी को इतना श्रम करना पड़ता है कि निरन्तर दीर्घकाल तक मनन का अवसर न पा सकने से गूढ़ तत्वकी अभिव्यक्ति नहीं होती। वह पूंजीपति और अकिंचन दरिद्र के दो विरोधी वर्गों की उत्पत्ति नहीं हटाता इसलिए समाज का निर्माण नहीं कर सकता। बलवान से दुर्बल की रक्षा का दूसरा साधन क्षत्रिय धर्म है। क्षत्रिय राज्य का अधिकारी है सब का निर्वाह हो, कोई किसी को पीड़ा न पहुँचा सके यह राज्य का काम है। यह राज्य का प्रभाव है कि दिन हो या रात लोग सुख से रहते हैं और चोर डाकू दुःख नहीं दे सकते। राज्य न हो तो मनु के शब्दों में बलवान् दुर्बलों को लोहे की सलाइयों पर मछलियों की तरह पका डालते। वर्ण धर्म के न मानने वाले भी राज्य को व्यवस्था का प्रधान उपाय मानते हैं। लोगों का विश्वास है कि राज्य का किसी के साथ न पक्षपात है न द्वेष। यह मनुष्यों को हितकारी कार्यों में नियुक्त करता है। दण्ड देने की शक्ति होने से राज्य निःसन्देह अन्याय का निवारण कर सकता है। राज्य का स्वरूप विविध है। वर्णधर्म का प्रतिपादन करनेवाली स्मृतियों में जिस राज्य का वर्णन है वह वंशगत है। राजा को पूरे अधिकार हैं। मन्त्रियों के साथ सोच-विचार करके शासन के लिए कहा गया है। पर मंत्रियों का चुनाव राजा के अधीन है। इस प्रकार के एक की अबाध्य इच्छानुसार चलने वाले राज्य में राजा प्रजाहित की चिन्ता करने वाला हो तो प्रजा सुखी रहेगी। यदि कहीं निरंकुश राजा स्वार्थ में ही रत हो जाय तब प्रजा की आपत्तियों का अन्त नहीं रहता। राजा का मुख्य कर्तव्य प्रजा का प्रसन्न करना कहा गया है।

प्रजारंजन के कारण राजा कहा जाता है। धर्मशास्त्रों का आदेश होने पर भी प्रजा पीडक निरंकुश राज्यों के दृष्टान्त इतिहास में बहुत हैं। राजा को देव रूप परमेश्वर के तुल्य कहा है। अन्य धर्मों के समान राजाज्ञा भी धर्म है। प्रजा की-समाज-की सुव्यवस्था करने के लिए यह आवश्यक है। पर राज्य अन्याय को धर्म के रूप में जब मनवाना चाहता है तब धर्म की व्यवस्था देने वालों को अपने साथ कर लेता है। कोई भी राज्य निरन्तर अन्याय करके नहीं ठहर सकता। इसलिए प्रत्येक प्रबन्ध को प्रजाहित का साधन बतलाना आवश्यक हो जाता है। प्रजातन्त्र राज्य शासन का दूसरा रूप है। इसमें राजा वंशगत नहीं होता। प्रजा बहुमत से किसी को चुनकर शासन का अधिकार देती है। राज को प्रजा के चुने अधिकारियों के साथ मिलकर देश का शासन करना होता है। केवल उसकी इच्छा कुछ नहीं कर सकती। इस प्रकार के गणतन्त्र राज्य प्राचीन भारत में रहे हैं। इस राज्य की बिशेषता है प्रजा का मत देने में व्यापक अधिकार। प्रजा अपने बहुमत से राजाज्ञा को रोक सकती है। राजा को अपने पदसे च्युत कर सकती है। आजकल इस ढंगका शासन अमेरिका में है। किसी प्रकार का राज्य हो, प्रजा का पूर्ण हित करने पर ही धर्म-राज्य हो सकता है। उसी राज्य के समाज में कोई किसी का वैरी न होगा। खाने पीने की चिन्ता न होगी। एक को जीविका मिलने से दूसरे प्रसन्न होंगे। स्मृतियों में गणतन्त्र राज्यों की शासन रीति का विवरण नहीं मिलता। कोई राज्य हो, न्याय से सब अधिकारों की रक्षा करना उसका कर्तव्य है। अन्याय से बचने के लिए स्मृतिकारों ने उत्तम नियमों का विधान किया है। पर एक मनुष्य का विशाल भूभाग पर अधिकार किसी ने अनुचित नहीं समझा। पूंजी और उसके द्वारा धनार्जन को नियम बनाकर कभी नहीं रोका गया। धन

संचय का अधिकार वैश्यों को ही दिया और उसमें कोई रुकावट नहीं रहने दी। अगाध अधिकार होने पर सब धनपति नहीं बन सकते। इने गिनों के अपार धन का स्वामी होने पर बहुतों का अकिंचन होकर दुःखी होना अनिवार्य है। स्मृतियों के वर्ण-धर्म में ही धनार्जन का बाधा हीन अधिकार नहीं है। अन्य प्रचलित शासनों ने भी इसे न्याययुक्त माना है। इसी कारण चोर और डाकुओं के उपद्रवों से शून्य प्राचीन राज्य दरिद्रता का मूल से उच्छेद नहीं कर सके। अर्थ के अत्यन्त वैषम्य का परिणाम होता है यह कि कोई वर्ण स्वधर्म का पालन नहीं कर सकता। वर्णधर्म समाज के संगठन में मूल से असमर्थ नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों के निवास भोजन वस्त्र चिकित्सा आदिका प्रबन्ध करते रहें, क्षत्रिय और वैश्य ब्राह्मण के उपदेशानुसार चलें तो किसी को कष्ट नहीं हो सकता। समाज का सुख उत्तरोत्तर बढ़ता चला जायगा। पर किसी विशेष काल और देश को छोड़कर सामान्य रूप से इस प्रकार की व्यवस्था शान्ति नहीं ला सकती। बिना भय के कर्त्तव्यबुद्धि स्थिर नहीं रहती।

पुराने ढंग का राजतन्त्र हो या वर्तमान शैली का लोकतन्त्र, सभी राज्यों में अधिकार और धन कुछ लोगों के पास होता है। ये लोग अपनी हितों की रक्षा के लिए शेष लोगों के जीवन की उपेक्षा कर देते हैं। अमेरिका में दरिद्र लोगों के कष्ट कुछ कम नहीं हैं। कहने को प्रजा का शासन है। प्रजा के प्रतिनिधि नियमों की रचना करते हैं पर प्रतिनिधि सभा को धनिकों के संकेत पर चलना पड़ता है। शासन की जिस किसी प्रणाली में धनी और दरिद्रों के दो विरोधी वर्ग रहेंगे उसमें पूरी शान्ति नहीं हो सकती। भूमि और पूंजी पर स्वत्व अर्थ वैषम्य और दरिद्रता का मूल कारण है। इसको बिना काटे समाज में परस्पर

सद्भावना नहीं उग सकती। आजकल के लोकतंत्र शासन में इसी कारण परस्पर द्वेष है। अन्याय का यह बीज शासन में प्रायः सदा रहा है। चिरकाल से अभ्यस्त लोगों ने इसे स्वाभाविक और न्यायसंगत मान लिया है। इस अत्यन्त पुराने बीज का समूल उच्छेद करने के लिये समाजवाद की अनिवार्य आवश्यकता है।

आश्रमधर्म से इस कष्ट का निवारण नहीं हो सकता है इस विषय में विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। **जीवन के भिन्न भिन्न भागों में नियत नाना कर्मों का आचरण आश्रम धर्म है** चार आश्रमों में गृहाश्रम मुख्य है। कारण, अर्थार्जन का अधिकार इस आश्रम में है। अर्थ की सहायता पर आश्रित ब्रह्मचर्य, वन और संन्यास की स्थिति गृहाश्रम के अधीन है। चार वर्णों के गृहस्थ धन कमाते हैं। धनार्जन की विधि के दूषित होने पर गृहस्थ बहुसंख्या में अन्न वस्त्र से शून्य हो जाते हैं। वे इतर तीन आश्रमियों को आवश्यक पदार्थ देने में असमर्थ हो जाते हैं। संपन्न गृहस्थों के बिना ब्रह्मचारी विद्याभ्यास नहीं करते। वनी और संन्यासी अपने उपदेशों से लाभ नहीं पहुंचा सकते। गृही के पीडित होने पर तीनों आश्रमों को पीड़ा होती है। इस प्रकार आश्रमी आश्रमी का झगड़ा होने लगता है।

समाजवाद के बिना वैषम्य को दूर करने का कोई उपाय नहीं है।

सामान्य धर्मों का उपयोग

सत्य धैर्य क्षमा आदि सामान्य धर्मों का लाभ निर्विवाद है। समाजवादी इन धर्मों को समाज के लिए उपयोगी समझते हैं। कुछ सामान्य धर्म हैं जिनके साथ समाजवाद के विरोध की संभावना है। उनका उपयोग विचारणीय है। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी मतों में दान और संतोष एकमत से कर्तव्य हैं। पहले दान को देखिए। दरिद्रों के कष्ट दूर करने का उपाय दान है। धन की विषमता के कारण जब तक लोगों को अन्न वस्त्रादि का कष्ट है तब तक दान आवश्यक है। लोगों को अन्नादि की कमी न रहे तो दान का प्रयोजन नहीं है। शास्त्र दरिद्रों का भरण करने के लिए कहते हैं, धनियों को धन देने का निषेध करते हैं। रोग होने पर औषधि आवश्यक है और नीरोग के लिए व्यर्थ है। समाजवादी शासन से सब खा पी सकेंगे। सबको काम मिलेगा। सबके पास रहने को स्थान होगा। उस दशा में दीन नहीं होगा। इसलिए कोई दान भी नहीं चाहेगा। दान के दोष भी हैं। दीन अपने आपको अत्यन्त तुच्छ समझने लगता है। आत्मा की अन्तर्निहित गूढ़ दिव्य शक्तियों पर उसका विश्वास नहीं रहता। भिखारियों की नहीं अर्थकष्ट से पण्डितों की दशा भी अपमानपूर्ण हो जाती है। इने गिनों को छोड़कर सब की पीड़ा दान से दूर नहीं हो सकती। इसलिए विद्वानों को उपेक्षित रहना पड़ता है। लक्ष्मी सरस्वती का वैर प्रसिद्ध है जीविका के लिए महाकवियों को राजाश्रय में रहना होता था। सब राजपण्डित नहीं बन सकते थे। परिणाम में बहुतों के दिन दरिद्रता में बीतते थे। अनेक बार

द्वार पर जाकर संपन्न दाता का दर्शन न पा सकने से किसी प्राचीन कवि ने अपने खेद का निवेदन लक्ष्मी से इस प्रकार किया है—

निद्राति स्नाति भुङ्क्ते चलति कचभरं शोषयत्यन्तरास्ते, दीव्यत्यक्षैर्नचायं गदितुमवसरो भूयआयाहि याहि ।। इत्युद्दण्डैः प्रभूणामसकृदधिकृतै र्वारितान् द्वारिदीना, नस्मान्पश्याब्धिकन्ये सरसिरुहरुचामन्तरङ्गै रपाङ्गैः ।।

अर्थात् धनियों के द्वार पर हम कई बार जाते हैं। उद्दण्ड द्वारपाल अन्दर जाने से रोक देते हैं। और कहते हैं अभी प्रभु सो रहे हैं, नहा रहे हैं, टहल रहे हैं, धूप में केश सुखा रहे हैं, जुआ खेल रहे हैं, अभी कहने का अवसर नहीं फिर आना इस समय जाओ। समुद्र पुत्री ! हम दीनों को कमल सुन्दर कटाक्षों से देख। इस प्रकार के अनेक पद्य प्राचीन काव्यों में मिलते हैं। कई कविताओं में कवियों ने अपर्याप्त दान का अच्छा उपहास किया है। हिन्दी के प्राचीन काव्यों में इसके बहुतेरे उदाहरण हैं। जिन्हें राज कृपा से प्रचुर सम्पत्ति मिल जाती थी वे आश्रयदाता की चन्द्रोज्वल कीर्ति का अति सुन्दर वर्णन करते थे। कहने को भोज प्रत्येक अक्षर पर लक्ष के दाता कहे गए हैं। इतने पर भी भोजराज्य में दरिद्रता के संताप से पंडित नहीं बच सके। अतिशयोक्ति के अनुसार एक ओर भोजराज की दान महिमा से पंडितों के घर में रत्नों के ढेर कूड़े के समान उठाकर फेंक दिए जाते थे और दूसरी ओर उसी राज्य में किसी कवि के मुख से सरस्वती इसलिए चली गई कि कांजी पीने के समय कहीं जल न जाय।

बहुत ब्राह्मणों का निर्वाह पुरोहिताई से है। सब यजमान धनी नहीं होते इसलिए दान दक्षिणा पर्याप्त नहीं मिलती। इस

कारण, प्रतिग्रहजीवी ब्राह्मणों का क्षुद्रभाव यज्ञ विवाहादि के अवसर पर मूर्तिमान् होकर दिखाई देता है। निमन्त्रण पाकर आठ आने या रुपये की दक्षिणा के लालच से भोजन करने के लिए बहुत दूर भागे जाते हैं। अन्नादि के व्यवसायिओं के समान दक्षिणा के लिए कई प्रकार के कूट प्रपंच करते हैं। दान को धनार्जन बना लेने से ब्राह्मण शूद्र हो जाता है और चाहता है महान् बनकर प्रतिष्ठा। इस विडम्बना से दान और प्रतिग्रह दोनों ही दूषित हो जाते हैं। जो लोग जन्म मात्र के प्रभाव से ब्राह्मण को आदरणीय मानते हैं, वे सामने मिलने पर सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं, आशीर्वाद लेते हैं, और वे ही स्वादु भोजन की लालसा के कारण घृणा भी करते हैं। जाति का ऊंचा भी समझते हैं और भावों का शूद्र भी। इस अपमान से बचने के लिए कई मनस्वियों ने भोजन के निमन्त्रण का स्वीकार करना छोड़ दिया है। शक्ति होने पर कोई भी प्रतिग्रह नहीं चाहता। स्मृतियों ने भी प्रतिग्रह को निकृष्ट कहा है। धर्म शास्त्र के अनुसार दान और प्रतिग्रह समाज के सुख के लिए अत्याज्य नहीं हैं। यह समाजवाद का उत्कर्ष है कि उससे दान अनावश्यक हो जाता है।

दूसरा सामान्य धर्म संतोष है। इसकी समाजवाद में सदा आवश्यकता है। वस्तुतः समाजवादी व्यवस्था में जितनी आवश्यकता संतोष की है उतनी अन्य व्यवस्थाओं में नहीं है। जब खाने पीने की पूरी सुविधा होगी, काम के लिए इधर उधर चिंतातुर होकर भटकना न पड़ेगा तब काम के अनुसार धन मिलेगा। इस दशा में शरीर वा बुद्धि के श्रम का अनुरूप फल पाकर भी कोई अपने को दरिद्र समझे, अधिक सम्पत्ति न होने से व्याकुल होने लगे तो उसे संतोष का उपदेश देना चाहिए। जीविका की चिन्ता नहीं, श्रम का पूरा फल मिलता

है कोई पूंजीपति अपहरण नहीं कर रहा फिर दुःख का कारण क्या ? जो मिले उसमें सुख मानना चाहिए। निर्वाह की चिन्ता से मुक्त कोई भी पुरुष श्रम के फल से संतोष कर सकता है। धन और विषयसुख की उच्छृंखल लालसा संपन्न को दरिद्र सुखी को दुःखी कर देती है। तब मनुष्य दूसरों के उचित अधिकार को मिटा देना चाहता है और समाज की शान्ति टूट जाती है। तृष्णा की आग संतोष के बिना शान्त नहीं होती।

अब ईश्वर भक्ति का विचार कीजिए। समाजवादी हों या न हों आजकल बहुत लोग भगवान् के भजन से मनुष्य की हानि समझते हैं। भगवान् का स्वरूप आचार्यों के मत में विविध प्रकार का है। वात्स्यायन, उद्योतकर आदि नैयायिक और प्रशस्तपाद आदि कणाद के अनुयायिओं के मत में वह संसार का कर्ता है और कर्मों का फल देता है। शंकराचार्य जी के अनुसार वह माया विशिष्ट ब्रह्म है रामानुज आचार्य के मत में चित् अचिद् विशिष्ट ब्रह्म ईश्वर है। भगवत्पाद पूर्णप्रज्ञाचार्य जी के अनुसार वह संसार का कर्ता और भक्ति से प्रसन्न होकर जीवों को मोक्ष देने वाला है। योग के अनुसार वह क्लेश कर्म और उनके संस्कारों से रहित पुरुष विशेष है। ईश्वर के विषय में और भी अनेक मत हैं। इस मत भेद के कारण ईश्वर वादियों के भिन्न भिन्न वर्ग बन जाते हैं। इस भेद का कारण होने से यदि ईश्वरभजन को अनिष्ट कार्य कहा जाता है तो यह ठीक नहीं है। मत भेद होने से वर्गों का परस्पर विरोधी होना आवश्यक नहीं है। ईश्वर के विरोधी संसार के मूल कारण का रूप एक प्रकार का नहीं कहते। कोई मूल तत्व को नित्य अपरिणामी मानते हैं। दूसरों के मत में वह प्रतिक्षण परिणामी अव्यक्त है। डार्विन के विकास

वाद का विचारकों में बहुत आदर है। उसमें कुछ कम मत नहीं। अत्यन्त स्थूल वस्तु का रूप सबको एक प्रतीत होता है। जो सूक्ष्म है, इन्द्रियां जिसे नहीं जान सकतीं उसके विषय में, विचारकों के मत नाना हो जाते हैं। सूक्ष्मतत्व अचेतन हो या चेतन उसके लिए सबका एक मत होना असम्भव है। नाना मत होने पर अचेतन मूल कारण क विचारक विरोधी नहीं बनते। चेतन कर्त्ता का अनुसन्धान भी इसी प्रकार होता है। केवल मत भेद होने से किसी पदार्थ को अग्राह्य मानने से बड़ी गड़बड़ी होगी। अतिसूक्ष्म अतीन्द्रिय अर्थ तो क्या स्थूल इन्द्रियगम्य अर्थों का परोक्ष रूप विचारकों के मत में एकसा नहीं। इस अलौकिक वस्तु में परीक्षकों के नाना मत हैं। अपने पक्ष की पुष्टि के लिए प्रत्येक ने गंभीर विचार किया है। न्याय और वैशेषिक के मत में तन्तु और पट सर्वथा भिन्न हैं। सांख्य के अनुसार वे अभिन्न हैं। कुमारिलभट्टपाद और जैनों के अनुसार भिन्न अभिन्न हैं। श्री शंकराचार्य जी के मत में कारण वस्तुतः सत् है और कार्य विवर्त है। केवल कल्पित है। इस मतभेद के कारण तन्तु और पट की सत्ता में रत्ती भर संशय नहीं होता। और न इससे कोई हानि होती है। एक ईश्वर ही क्या सर्व सम्मत सत्य अहिंसादि के विषयमें भी कुछ कम मतभेद नहीं है। सच बोलना चाहिए यहां तक तो किसी को विवाद नहीं। पर इस प्रकार के अवसर आ पड़ते हैं जिनमें लौकिक और परीक्षक समानरूप से एक मत नहीं रख सकते। निरपराध गौ किधर गई है ? कसाई के इस प्रश्न के उत्तर पर विचारकों का मत एक नहीं। सत्य के समान अहिंसा आदि की भी यही दशा है। क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इस निश्चय के कठिन होने से सत्य और अहिंसा मनुष्य के अहितकर नहीं बन जाते। इन महान् धर्मों के बिना किसी समाज में व्यवस्था

नहीं हो सकती। स्वयं समाजवाद में अनेक मत हैं। आचार्य कार्ल मार्क्स के पूर्ववर्ती और परवर्ती विद्वान् समाजवाद के भिन्न रूपों का वर्णन करते हैं। इतने से न समाजवाद दूषित है न ईश्वरवाद। साधारण लोगों का व्यवहार स्थूल वस्तु से होता है। वे परीक्षकों के गहरे विचारों में नहीं जाते। व्यवहार में उससे लाभ भी नहीं। वस्त्र के ओढ़ने, पहनने से लोगों का काम पूरा हो जाता है। साधारण लोग ईश्वर को संसार का कर्ता न्यायकारी और सुखों का धाम समझते हैं। बस इतने से उनका व्यवहार शान्ति के साथ चलता है। आचार्यों के मत और युक्ति प्रपंच उनके लिए अनावश्यक हैं। समाजवादी शासन में भी साधारण जनता जीविका, चिकित्सा और खान-पान की सुविधा से परिचित होती है। उसका समाजवाद पर प्रेम इस सुविधा के कारण होता है। उसे समाजवाद के गूढ़तत्वों और विविध मतों का ज्ञान नहीं होता।

ईश्वरवादी सम्प्रदाय लड़ते झगड़ते रहते हैं। पर तर्क का आश्रय लेने वाले सम्प्रदाय ईश्वर को किसी प्रकार का मानें वे उससे मनुष्य क्या प्राणिमात्र के साथ प्रेम का उपदेश पाते हैं। झगड़े का कारण साम्प्रदायिक लोगों का क्षुद्र अभिमान और स्वार्थ होता है। उसे छिपा कर प्रत्येक अपने पक्ष को न्याययुक्त सिद्ध करने के लिए ईश्वर का नाम लेता है। जर्मनी पोलेण्ड पर आक्रमण करता है। बृटेन और अमेरिका जर्मनी के साथ युद्ध करते हैं। सब देशों के लोग परमेश्वर को अपने पक्ष में समझते हैं और विजय के लिए प्रार्थना करते हैं। वास्तव में ईश्वर किसी को भी दुर्बल पर चढ़ाई करने की आज्ञा नहीं देता। लूटमार के लोभ से भारतवर्ष पर बाहर के लोग जब आक्रमण करते थे तब वे भी "अल्लाहो अक़बर" का नाद करते थे और राजपूत "हर हर महादेव" का घोष करते

थे। इन युद्धों का कारण वास्तव में स्वार्थ था। ईश्वर का नाम केवल धोखा देने के लिए है। सम्प्रदाय और ईश्वर एक नहीं हैं। स्वार्थमूलक संग्रामों का कारण ईश्वर विश्वास नहीं। नाम लेकर अत्याचार करने से निर्दोष सदोष नहीं हो जाता। कपट केवल ईश्वरवादियों में नहीं होता जिनका ईश्वर पर विश्वास नहीं है वे भी अत्यन्त भयंकर मारकाट करते हैं। जापान और चीन में बौद्धों की बहुसंख्या है। चीन पर चढ़ाई करके जापान ने जो नर-संहार किया है वह किसी भी संग्राम से कम नहीं है। ईश्वर के न मानने से ही शान्ति होती हो तो इन दोनों का वैर न होता।

समाजवादी समाजवाद को परस्पर विरोध का परम शत्रु मानते हैं। उनमें भी बड़ा उग्र वैर है। जो शक्तिशाली है जिनके पास अधिकार है वे समाजवाद के नाम पर विरोधियों को समूल नाश करने की चेष्टा करते हैं। जहां समाजवादी शासन है वहां इसके दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। अभिज्ञ लोगों से कुछ छिपा नहीं है। जिसका नाम लेकर लोगों को वंचित किया जाता है उसकी उत्तमता का प्रमाण स्वयं कपट है। सोना कह कर जब पीतल को बेचते हैं तो सोने का अधिक मूल्य पहले ही निश्चित होता है।

ईश्वर का यथार्थ विश्वास पाप से बचाता है। लाखों हैं जो भगवान् को प्रसन्न करने के लिए दीन दुखियों की सहायता में तत्पर रहते हैं। राजदण्ड का भय लोगों को स्पष्ट रूप से अन्याय नहीं करने देता। पर छिपकर पाप करने से राजदंड की शंका नहीं रहती। राजा के अधिकारी सब स्थानों पर नहीं हैं। और जो लोग ईश्वर को सर्वव्यापी मानते हैं वे कहीं भी नहीं छिप सकते। अन्दर, बाहर, दूर, पास सब स्थानों पर ईश्वर देख रहा है। ईश्वर का भय न हो तो लोग कहीं अधिक उपद्रव

करने लग जांय। राजदण्ड मनके द्वारा अनिष्ट चिन्तन को रोक नहीं सकता पर ईश्वर का विश्वास मन शुद्ध रखता है। हजारों लाखों, ईश्वर का भजन करते हैं, और अन्याय से धनार्जन भी करते हैं। इससे स्वार्थोंका भारी लोभ प्रकट होता है जो परमेश्वर की उपेक्षा कराता है। दरिद्रता की प्रचण्ड पीड़ा भी ईश्वर का ध्यान नहीं करने देती। भूख और तृष्णा शरीर और मन के प्रबल विकार हैं, जिनके सामने कोरा ईश्वर विश्वास प्रायः दब जाता है। दब जाना और बात है और शून्य होना और। पानी का शीतल स्पर्श आग के संयोग से दब जाता है पर आग के शान्त होते ही प्रतीत होने लगता है। इसी पानी में आग बुझाने की शक्ति है। केवल ईश्वर का जाप लोभ और भूख के उपद्रवों को नहीं हटा सकता। उसके लिए समाजवाद चाहिए। पर ईश्वर भक्ति के लाभदायक प्रभाव का खंडन असंगत है। स्वभावतः ईश्वर भजन परोपकार में प्रवृत्त करता है, अपकार में नहीं।

ईश्वरवाद और समाजवाद का सौहार्द

परिवार में कोई छोटा बड़ा नहीं होता। सबका परस्पर स्नेह होता है। पिता की दृष्टि में सब व्यक्ति समान होते हैं। सब योग्यतानुसार काम करते हैं। प्रत्येक दूसरे की चिन्ता रखता है। एक की आपत्ति से सब दुःखी होते हैं। यथा सम्भव परस्पर सहायता करते हैं। ईश्वर प्राणियों का पिता है और सबका एक परिवार है। परिवार-भावना ईश्वरवाद का एक स्वाभाविक परिणाम है। सामान्य रूप से ईश्वर भक्तों का यह विश्वास है कि धनी दरिद्र प्रबल दुर्बल का यहां चाहे कितना भी भेद हो पर ईश्वर की दृष्टि में सब एक हैं। समाजवाद के सिद्धान्तों के साथ परिवार-भावना का पूरा पूरा मेल है। समाज हित के विरोधी पूंजीपति परिवार के बुरे व्यक्ति के समान दण्डनीय हैं। परिवार में यह कोई नहीं कह सकता कि एक सुन्दर स्वादु भोजन करे और दूसरा भूखा तड़पता रहे। परिवार सफल चाहे न हो सके पर इच्छा यही होती है कि प्रत्येक यथा शक्ति काम करे और सबको आवश्यकता के अनुसार मिले। ईश्वर के विशाल परिवार मनुष्य समाज की भी यही इच्छा होनी चाहिए। परिवार और समाज में अत्यन्त भेद नहीं है। व्यक्तियों से परिवार और समाज बनता है। व्यक्ति कारण हैं और समाज कार्य। परीक्षकों ने भौतिक पदार्थों में जिस कार्यकारण भाव का प्रतिपादन किया है उसके अनुसार व्यक्ति और समाज का विचार हो सकता है। न्याय और वैशेषिक के अनुयायी तन्तु और पट को सर्वथा भिन्न मानते हैं। तन्तु मिलकर पट बनाते हैं। पर पट उनसे भिन्न है. उसकी पृथक् सत्ता है।

अलग होने पर भी पट तन्तुओं के बिना नहीं रह सकता। रहेगा वह तन्तुओं के आश्रित होकर। यदि इस रीति से समाज और व्यक्तियों का सम्बन्ध हो तो ईश्वर और मनुष्यों का समाज प्रत्येक व्यक्ति पर आश्रित होगा। ईश्वर को भी समाज के आरम्भक व्यक्तियों में मानना होगा। समाज के शरीरी व्यक्तियों में जो साम्य है वह जितना समाज रचना के लिए आवश्यक है उतना ईश्वर और व्यक्तियों का भी है। शरीरी व्यक्ति चेतन हैं और ईश्वर भी। मनुष्य अल्पज्ञ हैं और ईश्वर सर्वज्ञ, इतना भेद है पर यह गुणों का मात्राभेद है। मात्राभेद से गुणी की जाति नहीं भिन्न होती। शरीरी व्यक्ति प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं और ईश्वर का अनुभव साक्षात् रूप से नहीं होता। यही दशा तन्तु और पट में भी है। पट के आरम्भक तन्तुओं के मूल कारण परमाणु हैं जो दिखाई नहीं पड़ते। तन्तु और परमाणु अवान्तर जातिभेद के होने पर भी मूल में सजातीय हैं। तन्तु और परमाणु पार्थिव हैं। पट जिस प्रकार तन्तुओं के बिना नहीं रह सकता इस प्रकार समाज व्यक्तियों के बिना कहीं आश्रय नहीं पा सकता। परिवार में पिता के समान समाज में ईश्वर का पद है। पिता की आज्ञा से परिवार के प्रबन्ध का भार कोई भी योग्य व्यक्ति ले लेता है। ईश्वर का आदेश मानकर समाज का कोई गुणी समर्थ व्यक्ति व्यवस्था का काम करने लगता है। आरम्भवाद के अनुसार समाज का यह रूप है। कपिल मुनि के अनुयायी तन्तु और पट का तादात्म्य मानते हैं। तन्तुओं का परिणाम पट के रूप में होता है। एक एक तन्तु में पट अव्यक्त रूप से विद्यमान है। छोटे से अंकुर में वृक्ष तना शाखा पत्र फूल फल के साथ रहता है। पर दृष्टि में नहीं आता। सांख्यों का यह परिणामवाद पातञ्जल विचारकों को इष्ट है। योग ही नहीं श्री शंकराचार्य के अनुयायी

अद्वैती भी व्यवहार में परिणामवाद को स्वीकार करते हैं। अद्वैती ब्रह्मवादी हैं। परिणामवाद से व्यक्ति और समाज का अभेद है। जिस प्रकार प्रत्येक तन्तु पट है इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति समाज है। कुछ तन्तु दुर्बल हों और कुछ सबल तो पट उत्तम नहीं बनता। व्यक्तियों के पीड़ित होने पर उत्तम समाज का आविर्भाव नहीं हो सकता। व्यक्तियों के सबल होने पर समाज सबल होगा। पट के कारण तन्तु हैं और तन्तुओं का मूल अव्यक्त है। अव्यक्त व्यक्त के रूप में दिखाई देता है पर मूलरूप छिपा रहता है। समाज के कारण व्यक्ति शरीरि मनुष्य हैं उनका अपना शुद्ध रूप शरीर से हीन है। इन अशरीर आत्माओं के समान शरीर रहित ईश्वर भी समाज का अव्यक्त कारण है। अव्यक्त व्यक्त में प्रकट होता है। अव्यक्त ईश्वर और आत्माओं का स्वरूप समाज में अभिव्यक्त होता है। उत्तम समाज के विशाल स्वरूप में अव्यक्त ईश्वर के महान् ऐश्वर्य का साक्षात्कार है। पतञ्जलि कुमारिल भट्टपाद के अनुयायी और जैन कार्य कारण का भेदाभेद मानते हैं। इनमें अवान्तर भेद होने पर भी इस अंश में एकमत है। तन्तु और पट का परस्पर भेद और अभेद है। इनमें पतञ्जलि ईश्वरवादी हैं। भट्टपाद और जैन संसार के कर्ता ईश्वर का निषेध करते हैं। भेदाभेदवाद से व्यक्ति और समाज का भी भेद और अभेद है। परिणामवाद के समान इस पक्ष में ईश्वर मनुष्य दोनों व्यक्ति हैं। समाज में ईश्वर है और मनुष्य भी। बिना समाज के ईश्वर का सम्पूर्ण दर्शन असंभव है। बौद्ध कार्य को समूह मात्र कहते हैं। समुदाय समुदायी कारणों से बिलकुल पृथक् नहीं पर परिणाम भी नहीं। तन्तु पट रूप में नहीं हुए केवल इकट्ठे हो गए हैं। इस रूपमें उनका नाम पट धर दिया गया। इस संघातवाद को श्री रामानुजाचार्य के ईश्वर-

वादी अनुयायी युक्त समझते हैं। संघात पक्ष में समाज व्यक्तियों का समूह है परिणाम नहीं। समुदायी व्यक्तियों में यहां ईश्वर और मनुष्य दोनों हैं। समुदाय के लिए समग्र समुदायियों का होना आवश्यक है। एक ईश्वर और एक मनुष्य से समाज का निर्माण नहीं हो सकता। आरंभ परिणाम और संघात में से कोई भी पक्ष हो, समाज का रूप ईश्वर के सम्बन्ध से मनुष्यों का अत्यन्त कल्याणकारी है। ईश्वर के कारण मनुष्य परस्पर भाईचारे का अनुभव सहज ही करने लगते हैं। परिवार का भाव आत्मीयता के विकास का उपाय है। जितना आत्मीयता फैलती है उतना ही स्वार्थमूलक 'मैं' 'मेरे' का संकुचित रूप दूर होता है, पर का अभ्युदय अपना प्रतीत होता है। स्व और पर का भेद नहीं रहता। बच्चा जब फल खाकर मुस्कराता है तब पेट बच्चे का भरता है पर माता पिता देख देख कर तृप्त होते हैं। उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती। जीव और ईश्वर के भेदवादी मत में ईश्वर का विश्वास समाज में परिवार के भाव और उसके द्वारा आत्मभाव को अभिव्यक्त करता है।

जीव और ईश्वर के अभेदवादी मतोंमें मनुष्य क्या प्राणीमात्र ईश्वर है साक्षात् ब्रह्म है। इसका सीधा फल है व्यापक आत्म-भाव। जो सबको ब्रह्म-का अपने आत्मा का स्वरूप समझता है वह धनी और निर्धन शिक्षित और अशिक्षित रोगी और नीरोग के भेद को स्थिर नहीं रहने दे सकता। यह सब अन्याय अज्ञान के कारण है। मनुष्य मनुष्य में भेद अज्ञान है।

अभेदवाद दो प्रकार का है। एक भेद को सत्य समझता है और दूसरा मिथ्या। सत्यप्रपंचवादी के अनुसार प्रपंच भी सत्य और ब्रह्म भी। प्रपंच के मिथ्यात्ववाद में प्रपंच मिथ्या और केवल ब्रह्म सत्य है। दोनों अनेक में एकता को देखते हैं। सोना सत्य और कुण्डल अंगूठी भी सत्य। आकार मात्र के भेद से

कुण्डल और अंगूठी नाम पड़ गया। वास्तव में सोने से अत्यन्त भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जहां केवल प्रतीति में भेद है वहां परमार्थ अभेद है। स्वप्न में बहुत कुछ दिखाई देता है पर होता है केवल आत्मा। कुछ भी हो दोनों एकता देखते हैं। प्रत्येक मनुष्य ईश्वर है। उसका ऐश्वर्य आत्मा में है। सबके शिक्षित नीरोग बलवान् और सम्पन्न होने पर आत्मा का महान् व्यापक ऐश्वर्य दिखाई दे सकता है। जब सब एक हैं तब एक धनी हो तो दूसरा क्यों नहीं ? करोड़ों भूखे चिंतातुर दो चार धनियों में एक आत्मा का अनुभव नहीं करते। दो चार को जो सुख है वह सबको मिले तो ऐक्य का संवेदन होता है। समाज स्व है-आत्मा है। समाज का ऐश्वर्य अपना ऐश्वर्य है।

भेदवाद हो या अभेदवाद मनुष्य समान हैं एक हैं। अनेक में एकता का अनुभव ईश्वरवाद का फल है। समाजवाद भी मनुष्यसमाज में भ्रातृभाव चाहता है। फल एक है साधन दो हैं। ईश्वरवाद में आत्मा के असंकुचित विशाल स्वरूप की अभिव्यक्ति साधन है ! समाजवाद में भूमि कल कारखानों और पूंजी पर किसी एक के अधिकार का हटाना उपाय है। पहला आभ्यन्तर है और दूसरा बाह्य। इन दोनों का संयोग मणिकांचन के समान सुन्दर और अंकुर और पानी के समान शुभ फलों का देनेवाला है।

वर्णधर्म की अपरिहार्यता

समाजवाद समाज रचना के विरोधी कारणों का विनाश करता है। समाजवाद के अनुसार समाज का शासन पीडन का अन्त कर देगा। पेट भरने की चिन्ता न होगी। रहने को मकान मिलेगा। शिक्षा और चिकित्सा का प्रबन्ध उत्तम होगा। इतना होने पर भी कर्म के समुचित विभाग के बिना समाज का अभ्युदय नहीं हो सकता। प्रतिबन्ध को हटाना आवश्यक है पर केवल इतने से कार्य की उन्नति नहीं हो सकती। उन्नति के कारण भिन्न होते हैं। मनुष्यों की शक्तियां भिन्न प्रकार की हैं। सूक्ष्म दर्शी विवेचक हैं जो ज्ञान बल से समाज की उन्नति कर सकते हैं। कुछ में शासन का सामर्थ्य होता है। कइयों की प्रतिभा व्यापार में चमकती है। वे लोग भी हैं जो शरीर के श्रम से ही समाज के हित में तत्पर रह सकते हैं। इन विविधगुण वाले लोगों का गुणानुसार नियत हितकर कार्य करना वर्ण धर्म है। शुद्ध वर्ण धर्म इतना ही है। यदि लोग गुणानुसार कर्म न करें तो दरिद्रता का संताप न होने पर भी समाज का उत्तम हित न होगा। समाज के हित की रक्षा उन लोगों के हाथ में होनी चाहिए जो विद्वान् विषय-भोग की तीव्र लालसा से शून्य निस्पृह हों। पर यह भार दूसरे लोग लेंगे तो अवश्य कलह होगा। स्वार्थ चिन्ता और अज्ञान समाज के हित को छिन्न-भिन्न कर देंगे। अपने स्वभाव के प्रतिकूल कार्यों के करने पर एक का कार्य दूसरे का सहायक न हो-सकेगा। कर्मों के नियत न होने से कोई भी अपने काम में कुशल न हो सकेगा। इस दशा में काम का फल निकृष्ट कोटि का होगा। समाजवादी शासन में वर्ण धर्म की प्रतिष्ठा उत्तम रीति

से हो सकती है। समाज के हितैषी विद्वानों को जब परिवार के निर्वाह के लिए पूंजीपतियों पर आश्रित न होना पड़ेगा तब वे स्वच्छन्द भाव से अन्याय को रोकने के लि कह सकेंगे। उन नियमों का विधान होगा जिनसे किसी एक वर्ग का न होकर सबका हित होगा। शासन के अधिकारी पूरे क्षात्र धर्म का पालन करेंगे। सैनिक पैसों के लोभ से नहीं समाज की रक्षा के विचार से आवश्यकता होने पर संग्राम करेंगे। वैश्य का सारा यत्न समाज को संपन्न बनाने के लिए होगा। डर वा किसी प्रकार की धमकी के न होने से शूद्र कर्त्तव्य समझकर सेवा करेंगे। अध्यापन आदि कर्मों का स्वार्थ मूलक होना वर्ण व्यवस्था के लिए आवश्यक नहीं है। समाज हित का साधन होने पर भी इनमें वर्णों के व्यवस्थित करने का सामर्थ्य पूरा रहता है।

वर्ण व्यवस्था को अनेक समाजवादी और असमाजवादी आजकल व्यवहारोपयोगी नहीं मानते। इतना ही नहीं देश के लिए हानिकारक भी समझते हैं। जन्म प्रधान न मानकर कर्म प्रधान मानने से हानि का आक्षेप सहज ही दूर हो जाता है। गुण कर्म की उपेक्षा करके केवल जन्म मूलक वर्ण व्यवस्था मानना युक्ति संगत नहीं है। इससे ब्राह्मणों को लाभ रहता है पर क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को अन्याय पूर्ण कष्ट सहने पड़ते हैं। जो जितना निकृष्ट माना गया उसे उतना क्लेश है। शूद्र सब से निकृष्ट मान लिया गया इससे उसके कष्टों की सीमा न रही। शूद्रों में भी जन्म से ऊंच नीचपन चला। अत्यन्त निकृष्ट समझे जाने वाले शूद्र को मनुष्य के साधारण स्वाभाविक अधिकारों से वञ्चित कर दिया गया। पीडित शूद्र जब अपने धर्म के पालन में असमर्थ हो गया तब बिना श्रम के उच्च पद पाने वाले वर्णों में भी अपने धर्म से पतन का आरम्भ हो गया। वे मिथ्याभिमानी और दम्भी हो गए। स्वधर्म से-अपने कर्मों से हीन होने के कारण

वर्णों में भारी अव्यवस्था हो गई। शूद्रो को धन प्राप्ति के स धनों तक पहुंचने नहीं दिया जाता। धन के अभाव में उनके शरीर और आत्मा की उन्नति नहीं होती। योग्यताका नाश करके उन्हें जन्म से अयोग्य ठहरा दिया जाता है। मिथ्याभिमान से ऊंचे बने लोग शूद्रों को परिश्रम से प्राप्त धन का भी उपभोग नहीं करने देते। चांदी के भूषण नहीं पहरने देते। कुओं से पानी नहीं भरने देते। वधू को पालकी में बैठने नहीं देते। अन्याय से पीड़ित शूद्र अब विद्रोह करने लगे हैं। वे इस वर्ण भेद पर प्रतिष्ठित समाज को छोड़ने के लिए उद्यत हैं। मनुष्य के स्वाभाविक अधिकारों को पाने के लिए अनेक आत्म संमान रखने वाले शूद्र वर्ण भेद से रहित, अवैदिक मतों के मानने वाले लोगों में चले गए। कोई भी मनुष्य गुण कर्म की समान योग्यता होने पर केवल जन्म के कारण किसी समाज के तिरस्कार को नहीं सह सकता। जन्म मात्र पर आश्रित होने से वर्ण भेद अयोग्यों को कर्म का अधिकारी और योग्यों को अधिकार से हीन कर देता है। इस दशा में मनुष्यों के काम परस्पर सहायक न हो कर विरोधी बन जाते हैं और समाज का निर्माण नहीं होता। वर्णभेद समाज की रचना करता है पर वही समाज को भंग करने लग गया। इसका मूल है वर्णों को जन्म मूलक जाति समझना। जिनकी जाति जन्म से भिन्न है उनके गुण-कर्म समान नहीं होते। बिल्ली, कुत्ता, गौ, घोड़ा, गधा, हाथी, आदि भिन्न जातियों के प्राणी हैं। उनके गुणकर्म भी भिन्न हैं जब विविध कुलों के मनुष्यों को जन्म से भिन्न जाति का मान लिया तब गुण कर्मों को स्वभाव से भिन्न मान लिया गया। वैश्य वा शूद्र नामधारी कुल के बालकों के गुण कितने भी प्रत्यक्ष हों पर उन्हें जन्म भर के लिए अध्यापक वा शासक आदि पदों के अयोग्य माना जाता है। वर्ण

घोड़ा हाथी आदि के समान जन्म पर आश्रित हो तो उसे जाति कह सकते हैं। वस्तुतः वर्ण कर्म पर आश्रित है। समाजवाद और जन्म मूलक वर्ण भेद का अन्धकार और प्रकाश के समान विरोध है। समाजवाद के अनुसार प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता के अनुकूल कर्म करता है और कर्म के अनुसार फल पाता है इस रीति से मनुष्यों के काम परस्पर सहायक हो जाते हैं। काम और गुण देखकर योग्यता का निश्चय होता है जन्म से नहीं। शूद्र नामधारी अथवा गुण कर्म के अनुसार शूद्र का पुत्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के गुणों वाला हो तो उसे गुणानुसार कर्म करने का पूर्ण अधिकार है। व्यवहार को देखकर गुणों का निश्चय होगा जन्म से नहीं। योग्यता के अनुसार कर्म का अधिकार होने से सभी अन्यायों का उच्छेद हो जायगा। पूंजी अन्याय से उत्पन्न होती है, दूसरों को दरिद्र बनाती है और गुण कर्म हीन को प्रायः अधिकार सम्पन्न, धनी बनाती है। समाजवाद इस पूंजी का विनाशक है। पूंजी के न रहने पर कोई अयोग्य धनी नहीं बन सकता। न वह दूसरों को पीड़ा पहुँचा सकता है न प्रतिष्ठा पा सकता है। गुणों के बिना केवल जन्म से उत्कर्ष भी निम्न कुल के लोगों को दरिद्र और अपमानित करता है, और अयोग्यों के हाथ में अधिकार देता है। इस लिए समाजवाद जन्म के कारण न्याय से प्राप्त अधिकारों का अपहरण नहीं होने देगा। जन्म पर आश्रित वर्णवाद पूंजी से बढ़कर अन्याय का कारण बनता है। एक धनी ब्राह्मण वा क्षत्रिय दूसरे ब्राह्मण या क्षत्रिय को तभी तक छोटा समझता है जब तक दरिद्र रहता है। जहां उनकी दरिद्रता दूर हुई कि वे धनी उनको अपने समान समझने लगते हैं। पर वैश्य वा शूद्र कितना भी ऐश्वर्य शाली क्यों न हो जाय उसे जन्माभिमानी ब्राह्मण और क्षत्रिय सदा

छोटा ही समझेंगे और कभी योग्य पद पर प्रतिष्ठित नहीं होने देंगे। धन होने पर भी योग्यता के अनुसार काम न होगा। और समाज की हानि होगी। गुण कर्म पर प्रतिष्ठत वर्णवाद और समाजवाद का कोई भी विरोध नहीं है। उनकी परस्पर मित्रता है। समाजवाद योग्यता के अनुसार कर्म करने का अधिकार देता है। उसी पर वर्ण व्यवस्था प्रतिष्ठित है। समाजवाद से पराए स्वत्व का अपहरण दूर हो जाता है। उस उपद्रव हीन निर्भय दशा में योग्यता के अनुसार कर्म किया जा सकता है। अपहरण का हटाना साधन है और उचित कर्म कर सकना फल है। इन कर्मों का फल है वर्णों की प्रतिष्ठा। वर्ण व्यवस्था का फल है समाज का सर्वथा पूर्ण अभ्युदय।

वर्ण का मूल जन्म है या कर्म यह विवाद अत्यन्त पुराना है। अति प्राचीन काल में भगवान् बुद्ध ने वर्णों को कर्म पर आश्रित कहा। उसके अनन्तर बौद्ध और वेदानुयायी विद्वानों में इस विषय पर विचार होता रहा। आज अनेक वैदिक लोग भी कर्म को वर्ण का कारण समझते हैं। कर्म-मूलक वर्ण व्यवस्था पर अव्यावहारिकता का आक्षेप प्राचीन काल से अब तक चला आता है। भगवान् कुमारिल भट्टपाद ने तन्त्र वार्तिक में अन्योन्यश्रय दोष दिया है। ब्राह्मण आदि को यज्ञ आदि के करने का अधिकार है। किसी को ब्राह्मण तब कह सकते हैं जब कर्म कर चुके और कर्म का अधिकार तब होता है जब ब्राह्मण हो। जन्म के मूल होने पर यह दोष नहीं रहता। जिसको जन्म से ब्राह्मण प्राप्त है वह यज्ञ आदि कर सकता है। दूसरी आपत्ति यह है कि कर्म को कारण मानने से व्यवस्था नहीं हो सकती। अभी एक मनुष्य यज्ञ कराता है।

कुछ काल के अनन्तर वह सैनिक बन जाता है। उसके अनन्तर व्यापार से धन कमाने लगता है। और अन्त में उसे भार उठाकर या किसी धनी के बच्चों की सेवा से जीविका करनी पड़ती है। इस दशा में उसका कोई भी वर्ण नहीं रह सकता। वर्ण जन्म से हो तो उत्कृष्ट निकृष्ट नाना कर्मों के करने पर भी एक ही वर्ण रहेगा। प्रथम आक्षेप का उत्तर यह है कि भावी वर्ण को ध्यान में रखकर यज्ञ आदि किए जाते हैं। जो चाहता है ब्राह्मण बने वह पढ़ने पढ़ाने आदि में लग जाता है। जो क्षत्रिय बनना चाहता है वह सैनिक आदि का कर्म करता है। निरन्तर कर्म करने पर स्वधर्म के अनुसार किसी एक वर्ण को पा लेता है। और जो मनुष्य जीवन भर एक काम न करके अनेक प्रकार के विरुद्ध स्वभाववाले काम करता है वह किसी वर्ण का नहीं है। वह वर्ण हीन है। वर्ण व्यवस्था कर्म की व्यवस्था पर आश्रित है जिसके कर्म व्यवस्थित नहीं उसका कोई वर्ण नहीं हो सकता। नियत अनियत कर्म करने वाले सब प्रकार के मनुष्यों की एक व्यवस्था न हो सकती है न उचित है। वर्ण व्यवस्था कर्मों में कौशल उत्पन्न करके समाज का हित करती है। अनियत कर्म करनेवाले का किसी भी काम में कौशल नहीं हो सकता। उसके कामों से समाज का हित जितना हो सकता है उतना नहीं होता। समाज के अनुपयोगी कामों से वर्ण व्यवस्था का सम्बन्ध नहीं है।

प्राचीन काल से वर्तमान काल का बहुत भेद हो गया है। इस भेद के करण वस्तुओं की उपयोगिता घटती बढ़ती रहती है। अवस्थाओं के बदल जाने से कई बार अनेक वस्तुओं का उपयोग ही नहीं रहता। पुराने समय में बैलों या घोड़ों की गाड़ी से आनाजाना होता था। आज रेलें दौड़ती हैं। पानी और आकाश में जहाजों की बहुत तेज गति है। बैल गाड़ी और

घोड़ा गाड़ी का वह पहले सा उपयोग नहीं रहा। सर्दी में जिन वस्त्रों से सुख मिलता है गर्मी में वही कष्ट पहुँचाते हैं। कुछ साधन इस प्रकार के होते हैं जिनकी उपयोगिता न कभी नष्ट होती है न कभी घटती है। अन्न फल आदि इसी प्रकार के हैं। मनुष्य को इनकी पहले भी आवश्यकता थी और आज भी है। इनसे होने वाला लाभ नष्ट भी नहीं होगा। और न उस लाभ में कोई कमी आ सकती है। वर्ण व्यवस्था समाज के हित का कारण है। आज अवस्था बहुत बदल गई है। पर उससे वर्ण व्यवस्था द्वारा होने वाले लाभ में कोई कमी नहीं हुई। कुछ कठिनाइयां अवश्य व्यवस्था करने में आ गई हैं पर उनसे छुट-कारा हो सकता है। प्राचीन काल में इन प्रकार के पद थे, जिन के कामों से वर्ण का निश्चय करने में कठिनता न थी। आज इस प्रकार के अनेक पद हैं जिन पर रहकर जीवन भर काम करने वाला न केवल शासक कहा जा सकता है न व्यवस्थापक। उन पदों में शासन भी है और व्यवस्थापन भी। शासन होने से क्षत्रिय कहना चाहिए और व्यवस्थापन मुख्य हो तो ब्राह्मण। पर इन पदों में प्रधानता देखनी चाहिए। शासन की प्रधानता हो तो क्षत्रिय वर्ण है और व्यवस्थापन मुख्य हो तो ब्राह्मण। आजकल ही नहीं प्राचीन काल में भी ऐसे काम थे जिनमें शासन व्यवस्थापन और धनार्जन तीनों थे। तीनों के होने पर भी जिसका बाहुल्य होता था उससे वर्ण की व्यवस्था थी। जो खेती करता है या शिलाजीत आदि बेचता है या बकरी घोड़े आदि पालता है और पूंजी इकट्ठी करके व्यापार करता है वह वैश्य है। बड़े बड़े बैंकर और कम्पनियों के मैनेजर दूसरो के रुपयों का प्रबन्ध करके पूंजी उत्पन्न करते हैं ये भी मुख्य रूप से पूजी बढ़ाने में रहते हैं। प्रबन्ध करते हैं पर प्रबन्ध और क्षत्रियोचित शासन में भारी भेद है। सरकार के रेल

आदि के कार्यकर्त्ता अपने लिए और सरकार के लिए धन कमाते हैं। वे स्पष्ट रूप से वैश्य हैं। बैंकर या रेल के छोटे बड़े कर्मचारी को क्षत्रिय नहीं कह सकते। बहुत बड़ी भूमियों के अधिपति जमींदार भी वैश्य हैं। वह किसान से खेती कराता है। खेती का करना ही नहीं कराना भी वैश्य का धर्म है। किसानों पर जमींदार का शासन अवश्य है पर खेती की अपेक्षा कम है। कुछ न कुछ शासन मुख्याध्यापक भी करता है। उसे ब्राह्मण पद से हटाकर क्षत्रिय पद नहीं दिया जाता। इसी प्रकार जो मिल में अपने हाथों से बुनने आदि का काम करते हैं उन मजदूरों के समान मिल खड़ी करके धनार्जन करने वाले पूँजीपति भी वैश्य हैं। धनार्जन के द्वारा निर्वाह करने वाले वैश्य हैं। कुछ वैश्य शरीर के श्रम से धन लेते हैं और कुछ बुद्धि के। किसान के समान जुलाहे को शरीर के श्रम से धन मिलता है और मिल के स्वामी को बुद्धि के बल से। दोनों का श्रम शिल्प के विषय में है। आजकल कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की सम्मति से व्यापार के कुछ नियम बनाए जाते हैं। शिक्षित मजदूर कर देकर अपना अधिकार समझते हैं कि उनसे पूछे बिना राज्य युद्ध न करे। वे अपने धन का दुरुपयोग नहीं होने देंगे। राज्य के अधिकारी इच्छा मात्र से लाखों मनुष्यों को नहीं कटवा सकते। पर शासन और नियम बनाने के इतने अधिकार से मिलों के मजदूर क्षत्रिय और ब्राह्मण नहीं बन सकते। मजदूरों का रात दिन का काम शिल्प के सम्बन्ध में है। उनका वर्ण उसी काम से होगा। आजकल थोड़ी संख्या में वेतन लेकर लड़ने वाले सैनिकों को रखकर देश की रक्षा नहीं हो सकती। किसान हो या मिल का मजदूर, कोयले की खान से कोयला निकालता हो या किसी विद्यालय में पढ़ाता हो, दुकान पर बैठ कर कपड़े बेचता हो या किसी बैंक में लेखक हो, प्रत्येक

को आवश्यकता होने पर युद्ध में जाने के लिए तैयार रहना चाहिए। सब पर देशरक्षा का भार है इतना होने पर भी सब क्षत्रिय नहीं हो सकते। आजकल का काल आपत्तिकाल है। आपत्तिकाल में एक वर्ण को दूसरे वर्ण का काम करना पड़ता है, पर वह मुख्य काम नहीं होता। विवश होकर युद्ध में जाने वाले बैंक के लेखक, दुकान पर कपड़े बेचने वाले व्यापारी, और मिलों या खानों के मज़दूर अपने वर्णों में रहते हैं। मिलों के स्वामियों, व्यापारियों और बड़े बड़े जमींदारों के पास अनगिनत धन है। वे धन के बल से शासन के अधिकारियों और पण्डितों को अपने हाथों में कर लेते हैं। धन के बल से शासन भी करते हैं और प्रतिष्ठा भी पाते है। इस कष्ट का कोई प्रतिकार न होने से वर्ण व्यवस्था समाज का हित न कर सकेगी। पर यह वर्ण व्यवस्था का दोष नहीं। जो अकेली वर्णव्यवस्था को सारे दुःखों का नाश करनेवाली समझते हैं वे इस आक्षेप का उत्तर नहीं दे सकते। समाजवादी शासन से जब कोई अपार धन का अधिपति न हो सकेगा तब शासक और विद्वानों को विवश नहीं किया जा सकेगा। कोई धनी शासक न हो सकेगा और न विद्वानों का आदर ले सकेगा। सबके अधिकार सुरक्षित रहेंगे। जिनकी जीविका किसी के अधीन नहीं है उन विद्वानों को न्याय के मार्ग से हटाना असम्भव है। संपन्न और निश्चिन्त लोग वर्ण धर्म का पालन करके समाज को उन्नत करते हैं।

आज शुद्ध वर्ण नहीं हैं। वर्णों का भयंकर संकर है। वर्णों के अभिमानी हैं पर उनके गुण वर्ण के अनुकूल नहीं हैं। जीविका भी वर्णों के प्रतिकूल है। इस अव्यवस्था को हटाना आवश्यक है। गुण कर्मों के अनुसार सबको वर्णोंमें रखना होगा। कुछ समय तो लगेगा पर काम का स्वरूप कठिन नहीं है। गुण

और कर्म सबके सामने हैं। एक बार जहां लोगों ने कर्म से वर्ण मानना आरम्भ किया वहां वर्ण संकर मिटने लगेगा। इसके लिए राजबल की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। एकबार लोगों का वर्णों के कर्म मूलक होने में दृढ विश्वास हो जाय फिर वे स्वयं सभाओं द्वारा वर्ण का निश्चय कर लेंगे। उसके अनुसार सब काम होने लगेंगे। न भोजन में रुकावट होगी न विवाह में। जन्माभिमानियों के अल्प संख्या में हो जाने पर कोई कष्ट न रहेगा। जबतक लोग वर्ण को जन्म से मानते हैं और उसी में कल्याण समझते हैं तबतक इसका व्यवहार में आना असंभव है। काम गणित का कठिन प्रश्न नहीं है जिसके समझने के लिए अत्यन्त परिश्रम की आवश्यकता हो। लोग कामों से वर्ण का निश्चय कर सकते हैं। पर पुराना विश्वास कर्मानुसार वर्ण का व्यवहार नहीं करने देता।

कुछ घोड़े दौड़ने में कुशल होते हैं और कुछ रथ में जुतकर अच्छा काम करते हैं। काम लेने वाले उनकी क्रियाओं को देखकर श्रेणियां बना लेते हैं और व्यवहार करते हैं। तेज दौड़ने वाले घोड़े की संतान यदि कारण वश तीव्र वेग से रहित है तो उसका उपयोग दौड़ने में नहीं लिया जाता। यही बात मनुष्यों में होनी चाहिए। सरलता से हो भी सकती है। मनुष्य स्वयं न चाहे तो कोई भी काम नहीं हो सकता। कर्मों के स्वरूप के निश्चय की कठिनता से कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था होने में विघ्न का लेश नहीं है। सारा विघ्न मनुष्य की अपनी इच्छा से है।

वर्ण व्यवस्था से प्राचीन काल में सुख और शान्ति रही है आज भी उससे समाज का हित हो सकता है। प्राचीन काल में जो आर्थिक दशा थी वह आज बदल चुकी है पर समानता भी बहुत अंशों में है। प्रायः समय भेद से पदार्थों के आकार में भेद होने पर भी मूलरूप में भेद नहीं आता। प्राचीन काल बहुत दीर्घ-

काल है। उसके भागों की एक दशा नहीं रही। ऐसा भी प्राचीन काल था जब भूमि प्रधान रूप से धन का कारण थी। जितनी भूमि जिसके पास थी वह उतना धनी था। निवासियों की अपेक्षा भूमि के अधिक होने से किसानों को आजकल का सा भारी कष्ट न था। मशीन न होने से शिल्पी लोगों को पूंजीपतियों के अधीन होकर काम नहीं करना पड़ता था। एक स्थान पर हजारों लाखों मनुष्यों को काम में लगाकर दो चार धनी भारी संपत्ति इकट्ठी नहीं कर सकते थे। निर्धनों की दशा बहुत कष्ट की न थी। धनी उनको रक्त चूसकर हड्डियों का हिलनेवाला ढांचा नहीं बना सकते थे।

इसी प्रकार के काल में वर्ण व्यवस्था का उपयोग नहीं रहा। इस से भिन्न प्रकार के कालों में भी वर्ण व्यवस्था समाज को सहायता देती रही है। भूमिप्रधान-सपत्ति वाले काल में भी दरिद्र को कष्ट पहुंचाने के अनेक साधन थे। मशीनों के न होने पर भी सैंकड़ों हजारों शिल्पियों को इकट्ठा करके एक पूंजीपति उनसे तय्यार सामान को ले सकता था और उन्हें श्रम का निश्चित मूल्य दे सकता था। श्रमी को दरिद्र बनाने का यह ढंग मिलों से मिलता जुलता है। तब भी पूंजीपति लोग बड़े बड़े व्यापार करते थे। धनी और निर्धन के विरोध के कारण तब भी कुछ कम न थे। वस्तुतः तब भी दरिद्र और धनी का झगड़ा रहता था। समाजवादी शासन न था धन का वैषम्य था। विरोध के कारण थे वैर आवश्यक था। इतना होने पर भी वर्ण विभाग ने उस काल में स्नेह उत्पन्न किया होगा जब धनी निर्धनों के भरण पोषण का पूरा ध्यान रखते होंगे। शासक लोगों की आपत्तियों के हटाने में लगे रहते होंगे। निस्पृह विद्वान् धनलोलुप न होकर जनता की भलाई के लिए चिन्ता करते होंगे। सेवक लोग खाने पीने की चिन्ता

से छूट कर शक्ति भर सेवा करते होंगे। समाज के हित की भावना से सब अपने धर्म का पालन करते रहे हों तो अवश्य ही समाजवाद के बिना भी वर्ण व्यवस्था से लाभ हुआ होगा। पर वर्ण व्यवस्था में वैषम्य और उससे होने वाले विरोध को दूर करने का सामर्थ्य नहीं है। प्रायः सम्पत्तिशाली लोग निर्धनों के हानि-लाभ की चिन्ता नहीं करते। इस कारण वर्ण व्यवस्था का प्रचार होने पर भी प्रायः प्राचीन लोग झगड़े और अशान्ति को दूर नहीं कर सके। आज बैंक और कारखानों के स्वामी धनाधिपति हैं। ज़मींदार न होने पर भी उनके पास प्रचुर सम्पत्ति है। उनका स्वार्थ निर्धनों के स्वार्थ का विरोधी है। इस लिए समाजवाद के बिना अकेला वर्णवाद अशान्ति को नहीं रोक सकता। प्राचीन काल के अधिक भाग के समान आज मनुष्य मनुष्य के विरोध को मिटाने के लिए समाजवाद की अत्यन्त आवश्यकता है। समाजवाद से शान्ति हो जाने पर वर्णों द्वारा योग्यता के अनुसार कर्म होगा। धन, मान और अधिकार सबको मिलेगा। इन तीनों में से जिसका बाहुल्य होगा उसके अनुसार वर्ण प्रतिष्ठित होगा। आज जिस प्रकार श्रमियों को नियमरचना में अधिकार मिल जानेसे धनिकों का विरोध उग्र हो रहा है तब न होगा। श्रमियों का अधिकार विद्वानों और शासकों का सहायक होजायगा।

सात्मक प्रधानवाद से समाजवाद की प्रतिष्ठा

समाजवाद का अभी तक अनात्मवाद के साथ सम्बन्ध रहा है। समाजवाद के आविष्कारक आचार्य मार्क्स और ऐंगल्स नित्य आत्मा और पुनर्जन्म को नहीं मानते थे और उनके अनुयायी भी अबतक नहीं मानते। जहां नित्य जीव की सत्ता नहीं मानी जाती वहां नित्य परमात्मा का स्थान कहां? चार्वाक नित्य आत्मा और परमात्मा को नहीं मानते। इस समानता के होने पर भी चार्वाक और समाजवादी के अनात्मवाद का भारी भेद है। चार्वाक के अनुसार शरीर के एक बार नष्ट हो जाने पर दुबारा जीवन नहीं मिलेगा इसलिए खा-पीकर आनन्द में रहना चाहिए। अच्छे या बुरे उपायों से जितना विषयों का आनन्द लूटा जा सके उतना लूट लेना चाहिए। पर समाजवादी इस प्रकार का उपदेश नहीं देता। उस के मत में सत्य दया और जनहित के लिए अपने प्राणों के बलिदान करने का उतना ही आदर है जितना किसी भी ईश्वरवादी के यहाँ। लोगों की दरिद्रता का विनाश करना ही समाजवाद का प्रधान लक्ष्य है।

अनीश्वरवाद और अनात्मवाद का सत्य, न्याय और परोपकार आदि उदात्त गुणों के साथ विरोध आवश्यक नहीं है। महर्षि कपिल के प्रचलित सांख्य दर्शन—जिसका प्रतिपादन माठर और वाचस्पति मिश्र ने किया है—और कुमारिल भट्टवाद के प्रसिद्ध मत में संसार का कर्त्ता ईश्वर नहीं है पर इन महान् गुणों का परम आदर है। इनके बिना सांख्य और भाट्टमत वाले स्वर्ग और अपवर्ग की प्राप्ति को असम्भव समझते हैं।

नित्य जीवात्मा और उसके पुनर्जन्म को न मान कर भी प्रायः पाश्चात्य दार्शनिकों ने मानव जीवन को पूर्ण बनाने के लिए न्याय, त्याग, सत्य आदि गुणों को अत्यन्त ऊंचा स्थान दिया है। समाजवाद इस विषय में अकेला नहीं है बौद्ध अवश्य अनात्मवादी हैं और तप परोपकार सत्य आदि की प्रतिष्ठा भी उनके मत में बहुत अधिक है पर वे पुनर्जन्म को मानते हैं। बौद्धों का अनात्मवाद, चार्वाक और अनेक पाश्चात्य दर्शनों के अनात्मवाद से बहुत भिन्न हैं। जीव और पुनर्जन्म को न मान कर सबके कल्याण की भावना भारतीय दार्शनिकों को विचित्र सी प्रतीत हो सकती है पर पाश्चात्य विचारकों के लिए इसमें कोई नवीनता नहीं है।

समाजवाद के दार्शनिक आधार का निरूपण करने वाले समाजवाद को अनात्मवाद पर प्रतिष्ठित करते आये हैं। मैं समझता हूं समाजवाद की प्रतिष्ठा अनात्मवाद की अपेक्षा आत्मवाद पर बहुत उत्तम रूप से हो सकती है। आत्मा के दोनों प्रकारों का जीवात्मा और परमात्मा का-जितना विचार किया जाय उतना ही समाजवाद न्याय संगत प्रतीत होता है।

आचार्य मार्क्स पर महान् विद्वान् हीगेल के विचारों का अत्यधिक प्रभाव है। हीगेल के अनुसार विश्व प्रपंच का मूल-कारण सत् भी है और चित् भी। उसका स्वरूप है-- मैं--अहम्। इसने अपने विरोधी न मैं--अनहम्--को प्रकट किया। अहं चित् और अनहं अचेतन है। इन दोनों के संगम से प्रपंच का आविर्भाव होता है।

अहं मूल अवस्था है और उसका विकार है अनहम्। दोनों का समन्वय जगत् का कारण है। हीगेल के अनुसार इस मूल दशा का नाम है वाद, और उसके विकार का नाम है प्रतिवाद।

दोनों के मेल को समन्वय कहते हैं। हीगेल के इस प्रकार को कथात्मक कहना चाहिए। न्याय दर्शन के अनुसार कथा में वाद और प्रतिवाद नाना रूप से होते हैं। मार्क्स ने इस कथात्मक परिणाम को स्वीकार कर लिया पर प्रपंच का मूल कारण अचेतन तत्व को माना। इस मूल अचेतन तत्व से अचेतन तत्वों के समान चेतना भी उद्भूत हुई। अचेतन प्रधान के कथात्मक परिणाम से व्यक्त होने वाले तत्त्वों की परम्परा क्रम से किसा समाजवादी ने नहीं प्रकाशित की। सामान्य रूप से उनका कहना है कि प्रधान से जिस प्रकार विशाल पृथिवी और उस पर हिमालय आदि पर्वत प्रकट हुए उसी प्रकार ज्ञान इच्छा, सुख, दुःख आदि से भरा जीवन भी प्रकट हुआ। प्रधान से सारा संसार एकाएक ही नहीं उत्पन्न हो गया। अवस्थाओं के अनुसार अनेक पदार्थ बनते चले गए। पृथिवी को लीजिए। पहले यह इस रूप में न थी। अत्यन्त तप्त पिण्ड के रूप में जल रही थी। उस दशा में कोई प्राणी नहीं उत्पन्न हो सकता था। धीरे धीरे करोड़ों वर्षों के अनन्तर उसका रूप प्राणियों की उत्पत्ति के योग्य हुआ। जीवन की अभिव्यक्ति होने के पीछे अवस्था-भेद के अनुसार उसके गुणों में भी भेद हो गया। प्रधान से विशाल लहराता समुद्र उत्पन्न हुआ और मीलों तक प्रचण्ड लपलपाती ज्वालाओं का फेंकने वाला सूर्य भी। शान्त उज्ज्वल तारे निकले और पहाड़ों को क्षण में तोड़ देने वाली बिजली भी। प्रधान ही से किसी अन्तःकरण से दुर्बलों को पीड़ा देने का विचार प्रकट हुआ और किसी में दुःखों से बचाने की इच्छा। कहीं दूसरे की कीर्ति से ईर्ष्या उत्पन्न होकर जलाने लगती है। और कहीं प्रसन्नता रोमाञ्च कर देती है। अवस्थाओं का यह प्रभाव दो चार व्यक्तियों पर ही नहीं है। सब पर इसका प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति और समाज दोनों के नियम समान

हैं। अवस्थाएँ कई प्रकार की हैं। कुछ आर्थिक हैं कुछ धार्मिक। कुछ राजनीतिक हैं। सबका परिणाम होता रहता है। समाज का सुख दुःख इन अवस्थाओं पर आश्रित है। मानव-समाज को अन्तःकरण की अवस्थाओं के समान भौतिक अवस्थाएँ भी प्रभावित करती हैं। ऋतुओं की गर्मी और सर्दी का प्रभाव होता है। देश की रचना और पशु पक्षी भी प्रभाव डालते हैं। मार्क्स कहते हैं इन सब में मुख्य आर्थिक अवस्था है। अच्छी-बुरी आर्थिक व्यवस्था के अनुसार समाज के सुख दुःख घटते बढ़ते रहते हैं।

यह है समाजवादी के कथात्मक प्रधानवाद का स्वरूप। इसके युक्त और अयुक्त होने का विचार यहां नहीं करना है। आत्मवाद के अनुसार शरीर से अतिरिक्त जीव और प्रपंच के कर्त्ता को सिद्ध भी नहीं करना है। आत्मवाद पर समाजवाद की प्रतिष्ठा केवल विचारणीय है। जो नैयायिक वा पूर्णप्रज्ञाचार्य के अनुयायी द्वैतवेदान्ती जीव को शरीर से भिन्न और ईश्वर को संसार का कर्त्ता मानते हैं, उनके मत में मूल जड़तत्त्व को ईश्वर प्रेरणा देता है। कर्त्ता की प्रेरणा का प्रभाव है कि अचेतन पदार्थ प्राणियोंको सुख दुःख दे सकते हैं। जड़ अचेतन तत्त्व को यदि कार्य रूप में न किया जाता, अव्यक्त कारण अपनी पहली दशा में रहता तो प्राणियों का व्यवहार न हो सकता। प्रधानवाद में अव्यक्त का व्यक्तरूप में परिणाम किसी दूसरे के अधीन नहीं है। मूल कारण का स्वभाव ही उसे प्रेरणा देने वाला है। इसलिए संसार का प्रतिक्षण होने वाला परिणाम विशेष निश्चित उद्देश्य के बिना हो रहा है। ईश्वरवादी अव्यक्त में व्यक्त होने की शक्ति को अयुक्त नहीं कहता। कालान्तर में अव्यक्त व्यक्त हो जाता है, पर कर्त्ता के बिना नहीं। मिट्टी घड़े को बना सकती है, पर कुम्हार के बिना नहीं। कुम्हार मनुष्य

के लिए घड़े को बनाता है। ईश्वर प्राणियों के लिए संसार की रचना करता है। रचना का उद्देश्य सुख दुःख दोनों हैं। चारपाई, दवात, पेंसिल, रेल, विमान आदि की रचना सुखके लिए की जाती है। तीर, तलवार, तोप, बन्दूक और बम के गोले दुःख देने के लिए बनाते हैं। संसार में कहीं चन्द्र, सूर्य तारे हैं, कहीं नदी, नद, पर्वत हैं, फूल की लतायें हैं, कांटे हैं, विष हैं, सड़े गले दुर्गन्ध देने वाले पदार्थ हैं। इनकी रचना यों ही नहीं हो गई। इनका प्रयोजन है। कुछ भी हो, प्रयोजन को ध्यान में रख कर रचना की गई हो, या बिना प्रयोजन के, संसार के पदार्थों से सुख दुःख का अनुभव होता है। कर्त्ताने दोनों प्रकार की रचना की है। यह विचारशील मनुष्य का कर्त्तव्य है कि प्रतिकूल का त्याग करके अनुकूल का ग्रहण करे। सुख और दुःख कर्मों के फल हैं। कर्मफल का यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक सुख दुःख पूर्व-जन्म के कर्मों का फल है। मनुष्य को पूर्व जन्म के कर्मों से कुछ फल मिलते हैं, और अनेक सुख दुःख इसी वर्तमान जन्म के कर्मों से प्राप्त होते हैं। पुराने कर्मों के फल पर मनुष्य का कोई बन्धन नहीं है वह स्वयं बंधा है। पर वर्तमान में इच्छा के अनु-सार कर्म कर सकता है। वह कर्त्ता है। और कर्त्ता स्वतन्त्र होता है। किसी कार्य के करने न करने और उलटा करने में मनुष्य स्वतन्त्र है। ईश्वरवाद में जीव अल्पज्ञ है, और उसकी शक्ति भी परिमित है। कुछ दशाओं में उसे रहना ही पड़ता है। प्रधान-वाद में भी मनुष्य की शक्ति अनन्त नहीं है। प्रधान के सभी परिणामों में वह हेर फेर नहीं कर सकता। सर्दी गर्मी में इस प्रकार के उपाय कर सकता है जिससे उसे पीड़ा न हो। इसके आगे उसका सामर्थ्य नहीं है। सूर्य चाँद और समुद्र में कोई भारी परिवर्तन उसकी शक्ति के बाहर है। बुद्धि जब प्रधान का विकार है तब वह उसके प्रतिक्षण होने वाले समग्र परिणामों

को नहीं जान सकती। विकार प्रकृति को व्याप्त नहीं कर सकता। जब प्रधान बुद्धि की सीमा से बाहिर है तब उसे सुख दुःख भोगने में कुछ अंशों तक विवश रहना ही पड़ेगा। ईश्वरवाद और प्रधानवाद दोनों में मनुष्य को बाधित होकर कुछ दशाओं में रहना पड़ता है। आत्मवाद की एक विशेषता है। जीव प्रधान से सर्वथा भिन्न नित्यतत्व है। वह स्वतन्त्रता से संकल्प और उसके अनुसार कर्म कर सकता है। वह चाहे तो जा सकता है और चाहे तो खड़ा रहे। इच्छा में जीव स्वतन्त्र है। एकबार कर्म कर चुकने के अनन्तर वह फल के लिए भगवान् के अधीन हो जाता है। इससे पहले वह स्वतन्त्र है। राजाओं के दासों के समान परमेश्वर का चाटुकार बनना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म नहीं है। धनक्रीत सेवक जिस प्रकार स्वामी के हंसने पर हंसता है, और रोने पर रोता है। उस प्रकार मनुष्य परमेश्वर का क्रीत-दास नहीं है। दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है। प्रधानवाद का स्वाभाविक परिणाम यह है कि वह पूर्ण रूप से प्रकृति के अधीन है। संकल्प भी प्रधान का विकार है। उसने अवस्थाभेद के अनुसार अवश्य ही होना है। मनुष्य को इस विषय में स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य ने जब चलने का संकल्प किया तब उससे पहले अवस्थाएं इस प्रकार की थीं कि उससे भिन्न संकल्प हो ही नहीं सकता था। पानी का परिणाम कुछ अवस्था में भाप होता है और कुछ में बर्फ। इसी प्रकार कुछ अवस्थाएं हैं जिनसे जाने का संकल्प उठता है और कुछ हैं जिनसे खड़े होने की इच्छा होती है। इस पराधीनता में प्रतिकूल अवस्था को बदलने की चेष्टा उत्तमरीति से नहीं हो सकती। स्वतन्त्र सब कुछ कर सकता है। आत्मवादियों में बहुत से हैं जो जीव को संकल्प में भी ईश्वर के अधीन मानते हैं। प्रधान वादियों में भी मनुष्य की संकल्प में स्वतन्त्रता के मानने वाले हो सकते हैं। पर आत्मवाद

का स्वाभाविक झुकाव स्वतंत्रता की ओर, और प्रधानवाद का परतंत्रता की ओर है। समाज वादी संसार की दुःखमय अवस्था को हटाना चाहता है, और आत्मवाद इसका पूरा सहायक है। कुछ अवस्थाएं हैं जिन्हें कोई नहीं बदल सकता। प्रधानवाद और आत्मवाद दोनों उनके सामने विवश हैं। सूर्य्य चन्द्र दिन रात ऋतु मास आदि का परिवर्तन किसी प्रकार नहीं हो सकता। मनुष्य ने जिन अवस्थाओं को उत्पन्न किया है उनके हटाने का अधिकार आत्मवाद से कम नहीं होता प्रत्युत बढ़ता है। परमात्मा की व्यवस्था का भङ्ग मनुष्य से नहीं होता। पर मनुष्य मनुष्य की व्यवस्थाओं में सुधार कर सकता है। समाजवादी धन का विषम विभाग उत्पन्न करने वाली अवस्था को बदलना चाहता है। प्रचलित वैषम्य की उत्पादक अवस्था परमात्मा ने नहीं बनाई। इसके कर्त्ता मनुष्य हैं। जो कुछ हो रहा है उसका कर्त्ता ईश्वर ही है उसमें मनुष्य को कुछ नहीं करना चाहिए, यह विचार हो सकता है पर प्रधानवादी भी कह सकता है सब प्रधान का स्वाभाविक परिणाम है जो कुछ परिवर्तन आवश्यक है वह स्वयं होगा मनुष्य को कुछ नही करना चाहिए। यदि परिवर्तन करने की चेष्टा भी प्रधान का स्वतः परिणाम है तो उसे ईश्वर द्वारा प्रेरित भी कह सकते हैं। दरिद्रता के निवारण का यत्न भी ईश्वर की इच्छा से मानकर किया जा सकता है।

कथात्मक प्रधानवाद का दूसरा सिद्धान्त है प्रपंच का सत्यत्व। प्रधानवादी समझता है जिसने संसार को मिथ्या समझ लिया वह दरिद्रों के सुखी बनाने के झमेले में क्यों पड़ेगा? उसके लिये सब ब्रह्मरूप है, ब्रह्म सुखरूप है। जो कुछ कष्ट है यह भ्रान्ति का फल है। विचारवान् भ्रम में पड़-कर दुःखी नहीं होता। इस कारण से भी आत्मवाद का समाजवाद के साथ विरोध नहीं है। आत्मवाद के अनेक भेद हैं।

कुछ प्रपञ्च को सत्य कहते हैं और कुछ मिथ्या। सत्य प्रपञ्च वादियों का इस अंश में कोई विरोध नहीं हो सकता। प्रपञ्च के मिथ्यात्ववादियों का परमार्थ की दृष्टि से विरोध है पर व्यवहार में कोई विरोध नहीं है। समाजवाद का सम्बन्ध व्यवहार से है उसमें अनुकूल होनेपर विरोध का लेश नहीं रहता। प्रपञ्चमिथ्यात्ववादी दो प्रकार के हैं। एक हैं योगाचार बौद्ध; जो क्षणिक ज्ञान रूप नाना जीवों को मानते हैं और ज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ को मिथ्या कहते हैं। पदार्थ की बाह्यरूप से प्रतीति भ्रान्त है। एक ब्रह्म इनके मत में नहीं। भगवान्-शंकराचार्य्य के अनुयायी नित्यज्ञान स्वरूप ब्रह्म को सत्य कहते हैं। प्रपञ्च की सत्ता वस्तुतः है ही नहीं। उसे न सत् कहते हैं न असत् और न सदसत्। वह अनिर्वचनीय है। कुछ भी हो, परमार्थ में बाह्य पदार्थ ज्ञान वा ब्रह्म से चाहे अभिन्न हो व्यवहार में सत्य है। प्रपञ्च के मिथ्यात्व को मानने वाले भी वस्तु की सत्ता को व्यवहार में उतना ही सत्य मानते हैं जितना नैयायिक या अन्य कोई भी आत्मवादी। योगाचारों के अनुसार एकतन्त्र और गणतन्त्र की शासन प्रणाली से लोकव्यवहार चल सकता है। उनकी दृष्टि में जनता के कल्याण के लिये भौतिक उपायों का प्रयोग न्यायोचित है। और अद्वैतपक्ष में वेद और स्मृतियों के अनुसार वर्णाश्रम के धर्म का पालन उचित है। व्यवहार में शास्त्र के अनुसार आचरण मनुष्य का कर्त्तव्य है। इस प्रकार प्रपञ्चमिथ्यात्व पक्ष में अन्य व्यवस्थाए चल सकतीं हैं, तो समाजवादी व्यवस्था का प्रयोग भी हो सकता है। प्रपञ्च-मिथ्यात्ववादी उठने बैठने खाने पीने का व्यवहार लोकरीति से करता है। वह समाजवादी के व्यवहार को मिथ्या कहकर नहीं छोड़ सकता। अग्निहोत्र माता पिता की सेवा और भूख प्यास के होने पर भोजन और पानी पीना जितना सत्य है उतना

समाजवाद का व्यवहार किसी भूखे वा रोगी को देखकर शोगाचार वा अद्वैता चुप नहीं रहता। उनके दुःख को मिथ्या समझ कर उपेक्षा नहीं करता। समाजवाद से लोकव्यवहार की व्यवस्था इनके यहां भी हो सकती है। व्यवहार के लिये वस्तु को व्यवहार काल में अबाधित होना चाहिये। अद्वैती व्यवहारकाल में वस्तुओं को मन की कल्पना मात्र नहीं समझ रहा होता। उस काल में उसके लिए भी वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता है। कोई अनुभव करने वाला हो या न हो पदार्थ व्यवहार दशा में हैं ही।

कथात्मक प्रधान वाद का तीसरा सिद्धान्त है प्रधान के परिणाम का क्रम सांख्य के अनुसार भी प्रपञ्च प्रधान का परिणाम है। प्रधानवाद के दोनों प्रकार बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। पर इनका भेद भी पर्य्याप्त है। ध्यान से देखने पर स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। दोनों पक्षों में विरोधी गुणों की समावस्थाका नाम प्रधान है। क्योंकि प्रधान क्षण क्षण में परिणामी है। इसलिए उसका साम्य चिरकाल तक नहीं रह सकता। उसमें क्षोभ होता है। एक गुण औरों की उपेक्षा तीव्र हो उठता है। प्रधान के रूप में परिवर्त्तन आता है। यही विकार है। बिना विषमता के प्रकट हुए विकार नहीं होता। विकार अनन्त हैं, सब प्रकृति में वर्त्तमान हैं। एक काल में एक गुण प्रबल होने लगता है द्वितीय काल में दूसरा। गुण की विषमता के अनुसार विकार प्रकट होते रहते हैं। यहां तक तो समानता है पर इसके आगे परिणाम के क्रम में भेद है। कथात्मक परिणाम के अनुसार जितनी भी अवस्थाओं का परिवर्त्तन होता है उनमें पहली अवस्था बीज के रूप में है। दूसरी अंकुर के समान है। दूसरी और तीसरी अवस्था में भी बीजाङ्कुर के समान प्रकृति विकृति भाव है। पहली समावस्था होती है दूसरी में परिणाम और तीसरी में परिणाम का परिणाम होता है। इसके अनन्तर मूल अवस्था

आ जाती है। फिर इसी प्रकार परिणाम और उसका परिणाम होता रहता है। सांख्य पक्ष में एक तत्व से दूसरा तत्व जब तक प्रकट होता है तब तक क्रम नियत है। जहां से तत्वान्तर का परिणाम रुक जाता है, एक ही तत्व के परिणाम होने लगते हैं परिणाम होने पर नया तत्व नहीं बनता वहां विकारों का क्रम नियत नहीं होता। प्रधान से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियां और पांच तन्मात्र, तन्मात्रों से पांच महाभूत प्रकट होते हैं। अव्यक्त से व्यक्त प्रपञ्च का परिणाम इस क्रम से होता है। यह क्रम नियत है। प्रधान से महान् का परिणाम न हो और अहङ्कार प्रकट हो जाय यह नहीं हो सकता इसी प्रकार पांच तन्मात्रों के बिना प्रकट हुए सीधा अहङ्कार से स्थूल महाभूतों का परिणाम नहीं होता। प्रकृति से लेकर स्थूल महाभूत तक एक तत्व से दूसरे तत्व का परिणाम है। इसके अनन्तर महाभूतों के परिणाम होते हैं पर उनमें तत्व एक ही रहता है। प्रकृति और महान् महान् और अहङ्कार अहङ्कार और तन्मात्रों के स्वभाव अत्यन्त विलक्षण हैं। स्थूल महाभूतों के परिणाम विलक्षण धर्म वाले नहीं होते। पृथ्वी से घड़ा बना या कोई हाथी आदि के आकार का खिलौना। परिणाम भिन्न हो गया। नया तत्व नहीं निकला। मिट्टी का जो धर्म है वही घड़े और खिलौने का है। मिट्टी स्थूल है और उसका ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से होता है। घड़े और मिट्टी के खिलौने का भी यही धर्म है। इस कारण सांख्य की परिभाषा में महाभूतों को प्रकृति न कहकर विकृति कहा है। महान् के अहङ्कारादि के समान महाभूतों से घड़े आदि का परिणाम नियत क्रम से नहीं है। मिट्टी से घड़ा बनाना कर्त्ता की इच्छा पर है। वह चाहे तो घड़ा बना ले और चाहे तो पहले खिलौना बना ले। यदि घड़ा बनाए और उसे तोड़ कर खिलौना बनाये

तो केवल पूर्वापरभाव होने से घड़े और खिलौने में प्रकृति विकृति भाव नहीं है। बाद में बनने के कारण खिलौने में घड़े का कुछ अंश नहीं है। घड़ा प्रकृति ही नहीं उसका अंश खिलौने में कहां से आए। भूतों के स्थूल परिणामों में परिणाम के अनन्तर परिणाम और फिर मूल अवस्था यही क्रम आवश्यक नहीं है। तृतीय अवस्था में मूल और द्वितीय अवस्था के परिणामों का समन्वय भी आवश्यक नहीं होता। मिट्टी मूल अवस्था है घड़ा दूसरी अवस्था है। घड़े का कोई अन्य तीसरा परिणाम नहीं होता घड़े के टूटने पर कूट पीस कर मिट्टी बना लेते हैं। इस पीसकर बनी मिट्टी में घड़े का और मूल का मेल नहीं होता। । मूल कारण है, कार्य्य उसमें अभिव्यक्ति के पहले भी है और पीछे भी। कार्य्य के नष्ट होने के अनन्तर कारण रह जाता है। कपास के बीज से अङ्कुर हुआ फिर शाखायें हुई उनसे रुई, रुई से तन्तु, तन्तु से पट हुआ। यहां तृतीय परिणाम के अनन्तर फिर बीजावस्था नहीं आई।

स्थूल परिणामों में फिर किसी विशेष मूलावस्था का आ जाना नियत क्रम से नहीं होता। महाभूतों के कुछ परिणाम हैं जो मनुष्य की अपेक्षा नहीं रखते। उनमें परिणाम नियत क्रम से भी होता है और क्रम के बिना भी। बीज से अङ्कुर, अङ्कुर से काण्ड, काण्ड से पत्र, पत्र से पुष्प, पुष्प से फल का क्रम नियत है। जल से भाप बिना मनुष्य के बनती है। सूर्य की किरणें पानी को भाप के रूप में कर देती हैं। इसी जल से हिमालयादि पर्वतों पर बर्फ भी बिना मनुष्य के बनती है। भाप और बर्फ दोनों जल के परिणाम हैं पर उनमें अङ्कुर काण्डादि के समान क्रम नियत नहीं है। अवस्था के अनुसार कभी बर्फ बनती है और कभी भाप।

जो परिणाम मनुष्य द्वारा होते हैं उनमें बहुधा परिणाम का कोई क्रम नहीं रक्खा जा सकता। लकड़ी से तिपाई चारपाई सन्दूक आदि बन सकते हैं पर उनमें पूर्वापरभाव कर्त्ता की इच्छा के आधीन है। सब परिणामों में मूलदशा, परिणाम, परिणाम का परिणाम, फिर मूलावस्था, इस क्रम को स्थिर नहीं किया जा सकता।

अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार में परिणाम सांख्य के अनुसार है। कथात्मक क्रम से अद्वैत के परिणाम का निरूपण हो सकता है। पर अद्वैत के मूल सिद्धान्तों का उससे विरोध रहेगा। एकमात्र ब्रह्म से प्रपञ्च का परिणाम कथात्मक क्रम के अनुसार इस प्रकार रहेगा। ब्रह्म अद्वितीय सत् चैतन्य स्वरूप है। वाणी से वह परे है। ब्रह्म वाद है। वह अपने प्रतिवाद माया को प्रकट करता है। माया अचेतन है पर ब्रह्म का स्वभाव है। ब्रह्म और माया के योग से ईश्वर की अभिव्यक्ति हुई। ईश्वर अपने प्रतिवाद अविद्या को प्रकट करता है। ईश्वर और अविद्या के समन्वय से पुरुष हुआ पुरुष से उसका प्रतिवाद प्रकट हुआ मूल प्रधान। इन दोनों का योग है महत्। इसी प्रकार स्थूल भूतों तक परिणाम होता है। अब अद्वैत में माया वस्तुतः न सत् है न असत् वह अनिर्वचनीय है। वह ब्रह्म से उद्भूत नहीं होती। उसकी प्रतीति भर है। स्वप्न के पदार्थ के समान कल्पित है। बीज में अङ्कुर के समान ब्रह्म में उसकी परमार्थ में सत्ता ही नहीं। कथात्मक क्रम के अनुसार मूल से प्रकट होनेवाला परिणाम मूल के समान सत्य है। ईश्वर अविद्या को नहीं प्रकट करता प्रत्युत अविद्या के सम्बन्ध से शुद्ध चैतन्य ही ईश्वर हो जाता है पुरुष ईश्वर अविद्या का संयोग नहीं है। व्यवहार में ईश्वर और जीव का भारी भेद है। अन्तःकरण के साथ अविद्या का सम्बन्ध जीव को

अभिव्यक्त करता है। मूल अविद्या भी ईश्वर द्वारा नहीं प्रकट होती। अतः क्रम की दृष्टि से सांख्य और अद्वैत के परिणामों का कथात्मक परिणामों से बहुत भेद है।

कथात्मक क्रम के बिना भी सांख्यरीति से आर्थिक अवस्थाओं का निरूपण हो सकता है और उससे समाजवाद की पुष्टि होती है। कथात्मक क्रम को स्वीकार करने के कारण समाजवादियों ने आर्थिक अवस्थाओं का नियत क्रम मान लिया। उसके अनुसार पहले भूमि ही संपत्ति थी। शिल्प से भी धन मिलता था पर वह अर्जन का मुख्य साधन न था। अधिकतर कृषि पर आश्रित रहने से लोग गांवों में रहते थे। घर छोड़कर दूर जाने की आवश्यकता न थी। श्रम का मूल्य रुपये में नहीं दिया जाता था। शिल्पी ने काम किया उसे चावल गेहूं आदि की आवश्यकता है वही दे दिया जाता था। शासन करने वाले नरेश होते थे। धीरे धीरे इसका रूप बदलने लगा। खेतों के साथ साथ मिलें भी वस्तुओं को उत्पन्न करने लगीं। मिलें बहुत मजदूरों के बिना नहीं चल सकतीं। अब मजदूर गावों को छोड़कर शहरों में आ गये। मजदूरी रुपये में मिलने लगी। शिक्षित जनता का शासन में भी धीरे धीरे प्रवेश हो गया। नितान्त स्वच्छन्द होकर नरेशों का मनमाना व्यवहार रुक गया। शासन में जनमत का आदर राज्य को बाधित होकर करना पड़ा। मिलों और बड़े बड़े कारखानों पर अधिकार होने से कुछ लोगों के पास बहुत भारी सम्पत्ति हो गई। हजारों लोगों को भर पेट खाना कठिन हो गया। आजकल यही अवस्था है। कृषि प्रधान अवस्था समावस्था थी। एकतन्त्र राज्य उसका परिणाम है। इसका परिणाम वर्तमान-अवस्था है जिसमें धनार्जन का मुख्य साधन पूंजी है। इसपूंजी प्रणाली में भी दोष उत्पन्न हो चुके हैं। नये विकार का आना रोका नहीं जा सकता। पूंजी प्रणाली का परिणाम है समाजवाद।

इसमें पहली अवस्थाओं का समन्वय है। इसके बिना शान्ति असम्भव है। आर्थिक अवस्थाओं का यह इतिहास है। पर ऐतिहासिक होने पर भी घटनाओं का क्रम एक ही अखण्डित रूप का नहीं होता। धनार्जन के ढङ्ग मनुष्यों के आविष्कार हैं। आवश्यकता आविष्कार की जननी है यह सत्य है पर एक आवश्यकता को पूरा करने के लिये एक ही आविष्कार नहीं होता। बुद्धि भेद के अनुसार आविष्कार आवश्यकता की पूर्ति न्यूनाधिक रूप में करते हैं। अधिक उपयोगी आविष्कार को अपने काल से पहले भी शक्तिशाली अन्तःकरण प्रकट कर सकता है। एक ही आवश्यकता के न्यूनाधिक रूप से पूरा करने वाले आविष्कारों में सबसे पीछे प्रकट होने वाला आविष्कार अधिक उपयोगी हो तो यह अनुमान नहीं करना चाहिए कि इससे पूर्ण होने वाली आवश्यकता पूर्ववर्ती आविष्कारों के अनन्तर उत्पन्न हुई है, पहले के आविष्कारों से पहले यह आवश्यकता नहीं थी। एक रोग के लिए चार पाच वर्षों के अन्तर से चार औषधियों का आविष्कार हो सकता है। चौथी अधिक उपयोगी हो तो यह कहना अयुक्त है कि इससे पूर्व रोग नहीं था। रोग के पूर्ववर्ती होने पर भी समर्थ मनुष्य न होने से पूर्ण उपयोगी आविष्कार नहीं प्रकट होता। समाजवाद आचार्य मार्क्स की दिव्य प्रतिभा का आविष्कार है। धन की अन्याय भरी विषमता को दूर करने के लिए अत्यन्त प्रभावशाली साधन है। प्रचलित पूँजी मूलक रीति से पहले भी धन वैषम्य था। एकतन्त्र और लोकतन्त्र शासनों से पुराने विद्वानों ने जनसाधारण को सम्पन्न सुखी बनाना चाहा पर नहीं बना सके। उन उपायों से दरिद्रता की जड़ पर आघात करने की शक्ति नहीं थी। पूँजी द्वारा धनार्जन का ढंग वर्तमान रूप में न होता तो भी समाजवाद का आविष्कार हो सकता

था। आवश्यकता थी पर उत्कृष्ट उपाय का आविष्कार करने वाली प्रतिभा ने जन्म नहीं लिया था यदि अतीत में भिन्न प्रकार के मनुष्य होते तो आर्थिक अवस्थाओं का इतिहास कुछ और होता। एकतन्त्र और लोकतन्त्र में पहले पूंजी से अर्थ का अर्जन न हो पूंजी की रीति पीछे ही हो. यह बीजांकुर के समान नियत नहीं हो सकता। आर्थिक अवस्था बुद्धिरचित है। समाजवादी भी बुद्धि के व्यवहारों को भौतिक परिणामों के समान किसी विशेष दिशा की ओर ही झुकने वाला नहीं मानते। बुद्धि एक एक पग भी चल सकती है और छलांग भी मरती है। यह बात नहीं कि पूर्ववर्त्ती विचारों का प्रतिभा पर भारी प्रभाव नहीं पड़ता। प्रतिभा में समीप की अवस्थाओं से ऊपर उठने की शक्ति है। सो अवस्थाओं का इतिहास है, और उनका क्रम भी है पर परिवर्तन के अयोग्य नहीं है।

समाजवादी संसार के वर्तमान दोषों को मिटाना चाहता है। आत्मवाद से उसे बड़ी सहायता मिल सकती है आत्मवाद अन्याय के दूर करने का भार सर्वथा ईश्वर पर नहीं डालता। जितना भाग ईश्वर का है उसे वह करता ही है। जो मनुष्य को करना चाहिए उसे ईश्वर नहीं कर देता। सब कुछ छोड़ कर पड़े रहने वाले ईश्वर भक्त बहुतेरे हैं पर आत्मवाद का कर्म करने के लिए प्रबल आग्रह है। फल की चिन्ता से अवश्य दूर रखता है आत्मवादी ईश्वर के अङ्गीकार करने वाले भी हैं, न मानने वाले भी। उनमें कुछ प्रपंच को सत्य भी मानते हैं, कुछ मिथ्या भी। समाजवादी अनात्मक प्रधानवादी हैं, पर उनका सम्बन्ध सात्मक प्रधानवाद के साथ भी हो सकता है।

कर्मफल से समाजवाद की सिद्धि

संपत्ति के अन्याय पूर्ण वैषम्य को हटाने के लिये समाज वाद के तीन मुख्य सिद्धान्त हैं। पहला है भूमि पर किसी व्यक्ति विशेष के स्वत्व का न होना। दूसरा, पूंजी पर व्यक्ति के स्वत्व का न होना। तीसरा पराये श्रम के फल पर स्वत्व का न होना। पहले भूमि को लीजिए। भूमि धन का मुख्य रूप है। भूमि से गेहूं, जौ, चावल, बाजरा आदि की उत्पत्ति होती है। वृक्ष और औषधियां भूमि पर उगती हैं। जिनके बिना मनुष्य पक्षी जी नहीं सकते। मकान कल कारखाने सब भूमि पर खड़े हैं। लोहा चांदी सोना आदि पृथ्वी से निकलते हैं। भूमि का कुछ भाग है, जिसमें सोना, चांदी, आदि है। भूमि का एक वह भाग है जिसपर मकान खड़े हैं। शेष भाग वह जिसपर खेती होती है। यह भाग अन्य भागों से बहुत बड़ा है। मकान और खेती वाले भू भाग पर विशेष व्यक्तियों का अधिकार है। यह अधिकार चिरकाल से चला आ रहा है। इस व्यक्ति गत अधिकार के कारण देश में कुछ को छोड़कर बहुत मनुष्य भूखों मरते हैं। आजकल धनी लोग शहरों में गन्दे मकान बनवाते हैं और बहुत अधिक किराया लेते हैं। निर्धन लोगों को इनमें ही रहना पड़ता है। किराये पर रहने वालों के कष्ट और मकानों के स्वामियों के द्रव्य बढ़ते ही चले जाते हैं।

खेतों पर स्वत्व भाड़े के मकानों से कहीं बढ़कर दुःख दे रहा है। जो खेती करता है वह किसान है। किसानों के भेद हैं। एक वह कृषक है जो अपनी भूमि का स्वयं स्वामी है। जो आय होती है उसका कुछ भाग कर के रूप में राज को देता है।

इस प्रकार के कृषकों की संख्या बहुत कम है। दूसरे प्रकार का कृषक वह है जो खेत का स्वामी नहीं है और राज को लगान देता है। भारत के दक्षिण भाग में मुख्य रूप से यह प्रथा है। इन दोनों रीतियों में कृषक को अन्याय से कष्ट नहीं मिलता। तीसरे ढंग का कृषक वह है जिसका भूमि पर कुछ भी स्वत्व नहीं है। भूमि का अधिपति कोई और है। उसे कृषक लगान देता है। इसके आगे भूस्वामी राज को कर देता है। इन भूस्वामियों को जमींदार कहा जाता है। यह रीति बहुत प्रचलित है। इस प्रथा से कृषकों के दुःखों की सीमा नहीं रहती। राज समुदाय का होता है उसमें पक्षपात नहीं रहता। पर व्यक्तियों के अपने स्वार्थ होते हैं। वे कर के समान कृषक से बहुत कम लेकर संतुष्ट नहीं होते। कृषक को इतना देना पड़ता है कि पेट भर लेने के पीछे जो कुछ बच जाता है वह सब जमींदार के पास चला जाता है।

समाजवादियों के अनुसार जमींदार का भूमि पर अधिकार न्याय संगत नहीं है। जमींदारी की यह प्रथा आरम्भ से नहीं है। जब आर्यों का भारत में शासन था तब कृषक सीधा राजा को कर देते थे। जो कृषकों से कर इकट्ठा करते थे उन्हें कुछ राजाओं ने अपने अपने भाग का स्वामी मान लिया। वह स्वाम्य वंश परम्परा में स्थिर हो गया। इस इतिहास को लें तो खेत वस्तुतः कृषकों के थे राजों ने उनसे छीनकर दूसरों को दे दिये। बल से प्राप्त अधिकार में औचित्य नहीं है। किसानों से छीनकर जमींदारों को दे दिये गये। अब जमींदारों से छीन कर फिर कृषकों को लौटाये जा सकते हैं। छीन लेना अधिकार का कारण नहीं है। फिर किसी राज के देने से भी भूमि पर अधिकार उचित नहीं हो जाता। विचारना यह है कि राज को देने का अधिकार कहां से मिला? किसी एक राजा का भूमि

चाहिए। उसके परिश्रम से खेत उपजाऊ बनते हैं। फिर आरंभ में भूमि पर जमींदार का अधिकार हो सकता है। कारण, उसने श्रम किया है पर उसके वंशजों ने कोई श्रम नहीं किया। उनका अधिकार किस कारण ? जमींदारी के आरंभ की संभावना समाजवादियों के अनुसार इसी प्रकार की है। पर जमींदारी का आरंभ दूसरी रीति से भी हो सकता है। आरंभ में लोगों ने अपनी अपनी खेती के योग्य भूमि ली होगी। जिस पर उन्हें खेती नहीं करनी थी उसको उन्होंने व्यर्थ समझकर लिया न होगा। समय पाकर कुछ कृषकों ने अनेक कारणों से कुछ कृषकों के वा अन्य लोगों के पास अपने खेतों को बेच दिया होगा। जिन के पास भूमि अधिक हो गई होगी उन्होंने दूसरों से खेती कराना आरम्भ किया होगा। वे पालन पोषण के लिए देकर शेष सब ले लेते होंगे। इस संभावना के अनुसार आरम्भ में लोगों के पास उतनी भूमि थी जितनी पर वे खेती स्वयं कर सकते थे। भूमि के बहुत बड़े भाग पर अधिकार पीछे धीरे धीरे हुआ। इस संभावना की पुष्टि समाज वादियों की आशंका से भी होती है जिससे वे किसानों का भूस्वामी होना नहीं चाहते। यदि हर एक कृषक अपने खेतों का स्वामी हो जाय तो बहुत से दूसरों को भूमि देकर लगान लेने लगेंगे। कृषक जब अपनी भूमि को बेच सकेगा तो रुपये वाले खेतों को खरीद कर जमींदार बन जायेंगे। यदि कृषकों को भूमि बेचने का अधिकार न हो तो उन कृषकों की भूमि व्यर्थ हो जायेगी जो खेती करने में असमर्थ हो गये हैं। आगामी काल में यदि किसानों के भू स्वामी होने से जमींदारी हो सकती है तो भूत में उसके इस रीति से आरम्भ होने का पूरा अवसर है।

कुछ भी हो जमींदार का भूमि पर अधिकार न्याय से नहीं है। जहाँ कृषक सीधा राज को कर देता है वहाँ जमींदार के

अत्याचार तो नहीं होते पर अन्य दोष उत्पन्न हो जाते हैं जो समाज का हित नहीं होने देते। समाजवादियों को जमींदारी के फिर उत्पन्न होने का डर है। वस्तुतः कृषक का भी भूमि पर कोई स्वत्व नहीं है। आरम्भ में रोकने वाला न होने से जमींदार का अधिकार यदि उचित नहीं तो कृषक का उचित क्यों? उसने अपनी इच्छा से भूमि ले ली थी। राजा दान देकर जिस प्रकार जमींदार नहीं बना सकता उसी प्रकार कृषक भी नहीं बना सकता। भूमि पर सड़क बन जाय वा पास सड़क हो जाय तो जमींदार लगान बढ़ा देता है। कृषक भी इस दशा में मूल्य बढ़ा देता है। युद्ध हो जाने पर खेती की वस्तुओं के महंगा हो जाने से जमींदार लगान बढ़ा देता है। कृषक भी खेती से उत्पन्न पदार्थों का दाम मनमाना लेने लगता है। लगान की वृद्धि के लिए जमींदार को कुछ श्रम नहीं करना पड़ता। कृषक को भी मूल्य बढ़ाने में कुछ श्रम नहीं करना होता। समाजवाद के अनुसार भूमि का स्वामी न जमींदार होना चाहिए न कृषक। भूमि पर स्वत्व समुदाय का होना चाहिए। युद्ध करने वाला या सड़क निकालने वाला समुदाय है। समुदाय ही रक्षा का प्रबन्ध करता है। समुदाय का अधिकार होने पर किसी को हानि पहुंचने की शंका नहीं रहती।

अनात्मक समाजवाद के इन तर्कों से आत्मवाद का विरोध नहीं है, ये तर्क भूमि पर व्यक्तियों के अधिकार को अनुचित सिद्ध करते हैं। अर्थात् समुदाय का अधिकार प्रतीत होता है। आत्मवाद सीधा समुदाय के अधिकार को सिद्ध करता है। आत्मवादी ईश्वरवादी हों या अनीश्वरवादी संसार की रचना का कारण प्राणियों के कर्मों को मानते हैं। जगत् को ईश्वर ने कर्मफल देने के लिए बनाया वा कर्मों ने स्वयं बनाया प्रत्येक दशा में कर्म कारण है। अनात्मवाद में मूल अचेतन तत्व से

जगत् की रचना हुई। उसमें किसी का कर्म कारण नहीं है इस लिए सब का भूमि पर अधिकार होना चाहिए। आत्मवाद में मनुष्य ने जो शुभाशुभ कर्म किए हैं उनका सुख दुःख रूप फल देने के लिए संसार की रचना हुई है। सब मनुष्यों के कर्म कारण हैं इसलिए सबका अधिकार होना चाहिए। सबके कर्म न होते तो संसार न बनता।

सड़क जेल बाग आदि सबके धन से बनते हैं उनपर सबका समान अधिकार है। भूमि भी किसी एक के कर्मों से नहीं बनी। एक भूमि ही क्यों जितने बड़े बड़े भौतिक पदार्थ हैं उनकी रचना के कारण सबके कर्म हैं। जल के महान् पदार्थ समुद्र, नदी, नद और पहाड़ों पर पड़े विशाल हिम के ढेर, तेज के सूर्य चन्द्र तारे आदि, वायु के आंधी आदि किसी एक की संपत्ति नहीं हैं। आकाश है व्यापक अतीन्द्रिय। वह भी सबका है। पृथ्वी को छोड़कर अन्य बड़े पदार्थों पर मनुष्य अधिकार नहीं कर सका इसलिए वे सबके सांझे रहे। पृथिवी पर अधिकार हो सकता था इसलिए बलवान् ने दुर्बलों को दबाकर स्वत्व बना लिया। न्याय से वस्तुतः किसी एक का अधिकार नहीं है। सूर्य चन्द्र समुद्र और आकाश का एक स्वामी नहीं तो भूमि का ही क्यों? भूमि के समान समुद्र सूर्य आदि पर भी यदि मनुष्य अधिकार कर लेते तो दुर्बलों को क्षण भर भी सांस लेना कठिन हो जाता। विशेष रूप से अपने ही कर्मों के फल रूप में जो पदार्थ प्राप्त हैं उनके साथ आत्मा का अत्यन्त निकट साक्षात् सम्बन्ध होता है। शरीर प्राणी को अपने कर्मों से मिला है। शरीरी को अपने शरीर पर स्वत्व है। आत्मा और शरीर का साक्षात् संयोग है। यों तो संसार का कोई भी पदार्थ नहीं जिसकी रचना में अनेक आत्माओं के कर्म कारण न हों पर स्वत्व का कारण कर्मों का बाहुल्य है। एक के शरीर

से हजारों को सुख दुःख पहुंचता है इसलिए हजारों के कर्म एक की शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं। पर हजारों एक के स्वामी नहीं हैं। एक शरीर के बनाने में हजारों के कर्म सामान्य रूप से कारण हैं विशेष रूप से कारण उस एक आत्मा के कर्म हैं जिनका फल भोगने के लिए शरीर मिला है। शरीरी शरीर से सदा सुख दुःख का अनुभव करता रहता है यही इसका प्रमाण है कि शरीर की रचना मुख्य रूप से शरीराधिपति के कर्मों से हुई है किसी शरीरी का शरीर के समान भूमि के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। सब उसका उपभोग करते हैं इस लिए वह सब की है। सांझे पदार्थों में जितना अंश किसी एक के कर्म अर्थात् श्रम से उत्पन्न हो उतने पर कर्ता का अधिकार होना चाहिए। भूमि कृषक की नहीं है कृषक के श्रम से खेती है। उसका वह स्वामी हो सकता है।

सृष्टि को कर्मफल मान लेने पर समुदाय को भूमि का स्वामी मानना आवश्यक हो जाता है मुझे विस्मय होता है कि नैयायिकों और अन्य विद्वानों ने प्रपंच की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय को कर्म मूलक मानते हुए भी भूमि पर समुदाय का उल्लेख क्यों नहीं किया। अनात्मक समाजवाद के हेतुओं के प्रेरणा देकर आत्मवाद के द्वारा इस तत्व पर पहुँचाया। इसके लिए आभारी हूं।

सुख दुःख का कर्म मूलक होना आत्मवाद का अत्यन्त आदरणीय सिद्धान्त है। इस विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। कुछ लोग धनी और निर्धन के भारी वैषम्य को कर्म फल समझते हैं वे समझते हैं कि अपने पुण्यों से जमींदार बन गये, कुछ का मिलों पर अधिकार हो गया, कई बड़े व्यापारी कारखानों के स्वामी बन गये यह सब कर्मों की महिमा है। इसमें कोई अन्याय नहीं है। अनेक पंडित जन कहते पाये

जाते हैं कि धन देने वाले भाग्य भिन्न प्रकार के होते हैं – "धन सञ्चय कर्तृणि भाग्यानि पृथगेवहि" भाग्य में विद्या थी सो मिल गई। ऐश्वर्य भाग में नहीं था इस लिए नहीं मिला। सन्तोष से रहना उत्तम है। अब इससे बढ़कर परिताप की बात क्या हो सकती है! कर्मफल का सिद्धान्त अन्याय और अत्याचार को रोकता है। चार्वाक के मत से जो जन्मान्तर को कर्मफल नहीं समझते वे दूसरों को पीड़ा देकर भी विषयों के आनन्द लेने में नहीं झिझकते। डर उसे है जो समझता है कि लोगों की आंखों में धूल डाल कर इस लोक में धन भी मिल सकता है और यश भी, पर परलोक में कर्मफल भोगना ही पड़ेगा। उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। यदि अन्याय से धन कमाने को पूर्वजन्म के शुभ कर्मों का फल मान लिया जाय तो दीन के बचने की आशा कह? चोरी और डाका पड़ने पर भी भाग्य समझकर संतोष कर लेना चाहिए। मिल मालिक और जमींदार के समान चोर और डाकुओं को संपत्ति को भाग्य क्यों नहीं मान लिया जाता? बड़े बड़े व्यापारी और कारखाने के स्वामी भी पराए श्रम को छीन कर धनी बनते हैं। जो पीड़ित हो जिस पर अत्याचार हुआ हो उसने यदि अपने पापों का फल पाया है तो अत्याचारी का अपराध नहीं है। पीडित के कर्मों ने फल देने के लिए किसी को साधन बना लिया। साधन का दोष नहीं है। पीडित ही अपराधी है इस प्रकार भाग्यवाद से पीडित अपराधी और उत्पीडक निरपराध हो गये। यह न्याय है तो अन्याय क्या है? जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्म उन्हीं सुख दु:खों के कारण हो सकते हैं जिनका कारण कोई वर्त्तमान कर्म न हो। निर्धनों के श्रम से अनुचित लाभ उठाने वाले न होते और फिर भी दरिद्रता होती तो पूर्व जन्म के कर्म कारण हो सकते थे। कई लोगों ने भूमि बलपूर्वक दबा ली है इसलिए बहुतों के पास

भूमि नहीं है। इसका कारण निर्धनों के कर्म नहीं हैं। महाभारत के शब्दों में भारी सम्पत्ति दूसरों के मर्म का बिना छेदन किए नहीं मिलती। संपत्तिशाली मछली मारने वाले के समान हैं। बिना मारे मछलियां नहीं मिलतीं ऐश्वर्य की अपार राशि भी पर हत्या के बिना नहीं इकट्ठी हो सकती। धन संचय करनेवाला यदि मछली मारने वाले के समान अपराधी है तो दरिद्रों की हत्या उनके कर्मों का फल नहीं हो सकती। अत्याचारी और पीडित में से एक ही अपराधी हो सकता है। कर्मफल के सिद्धान्त से यदि भूमि को समाज के कर्मों से बना मान लिया जाय तो दान वा कर्म से उस पर दो, चार व्यक्तियों के अधि-कार का कोई स्थान नहीं रहता। समाज की वस्तु को न कोई बेच सकता है न दान कर सकता है। जो कुछ है अच्छा या बुरा सब कर्म फल है इस पक्ष में भी भूमि पर समाज का अधिकार माना जाय तो कोई दोष नहीं आता। एक एक के अधिकार से हटकर समाज के अधिकार में भूमि का आना भी जन्मान्तर के कर्मों का फल होगा। उस दशा में सब सुख शान्ति से रहेंगे। समाज के भू स्वामी होने पर कर्मों के फल देने की शक्ति कुण्ठित नहीं हो जाती भाग्य परतन्त्रता के पक्षपाती जन हित के लिए प्रयत्न का त्याग उचित नहीं समझते। जो होना है वह होकर रहेगा। इस आधार पर वे उपद्रवियों को खुली छुट्टी नहीं दे देते। प्राण और सम्पत्ति की रक्षा का प्रबन्ध करते हैं। झूठ और पर पीडन को रोकते हैं। समाज के अधिकार में भूमि के आ जाने से मनुष्यों का अधिक हित है। इस व्यवस्था पर कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

भूमि के अतिरिक्त धनार्जन के दो साधन और हैं पूंजी और श्रम, इनमें पूंजी श्रम से उत्पन्न होती है। श्रम से व्यापार होता है। उससे धन लाभ होता है। वही धन पूंजी हो जाता

है। मनुष्य का सारा धन पूंजी नहीं होता। घर में बर्तन, चारपाई सन्दूक, लाठी आदि रहते हैं। वे व्यवहार में आते हैं। वे सब जब तक उपभोग के लिए हैं तब तक पूंजी नहीं हैं। इसी प्रकार चांदी सोना और रुपयों का ढेर सुरक्षित पड़ा हुआ पूंजी नहीं है। जब धन से धन उत्पन्न किया जाता है। तब जनक धन को पूंजी कहते हैं। सौ रुपए देकर ब्याज के साथ एक सौ चार रुपए ले लेते हैं। सौ रुपयों ने चार रुपयों को उत्पन्न किया इसलिए सौ रुपया पूंजी है। ब्याज पूंजीवाले ने बिना श्रम के लिया है। ऋणी ने श्रम किया और फल पूंजी वाले को मिला। यही पूंजी का अनौचित्य है। पूंजी ब्याज से निरन्तर बढ़ती रहती है। दरिद्र रात दिन श्रम करके पेट नहीं भर सकते और पूंजीपति बिना श्रम किए शासन करता रहता है। कोई मनुष्य खर्च में बचत करके चालीस पचास रुपये बचा सकता है और उसे पूंजी के रूप में लगा सकता है। यहां पर चालीस पचास रुपए श्रम के फल हैं वह इनका उपभोग करे इसमें कोई आपत्ति नहीं है पर जब उसे पूंजी बनाता है तब औचित्य नहीं रहता। फिर वह पराए श्रम को लूटने लगता है। धनी लोग जितनी पूंजी लगाते हैं उससे इतना लाभ होता है कि जितना व्यय किया है उतना पा चुकने के बाद भी लाभ निरन्तर होता रहता है। अपने श्रम की बचत पर स्वत्व उचित है पूंजी पर नहीं। मनु आदि स्मृतिकारों ने धन से धन की वृद्धि को निन्दनीय कहा है। वार्धुषिक-वृद्धिजीवी का अन्न निषिद्ध है।

इस निन्दा के मूल में और क्या हो सकता है कि वृद्धि ऋणी के श्रम का अपहरण है। वर्णाश्रम धर्म और समाजवाद का इस विषय में स्पष्ट ही अनुकूल मत है।

भूमि और पूंजी का निरीक्षण हो चुका। अब श्रम का विचार करना चाहिए। यहां उस श्रम का विचार करना है जो

व्यापार के लिये आवश्यक है। व्यापार से धन आता है और वह पूजी बनता है। इस प्रकार श्रम पूंजी का कारण है। हजारों वर्षों से व्यापार हो रहा है कुछ लोग लाभ उठाते हैं और कुछ लोग हानि। इस विषय में आचार्य मार्क्स और एंग्लेन्स ने जो आविष्कार किया है वह अद्भुत है। उससे श्रम फल और स्वत्व में आमूल चूल परिवर्तन हुआ है। प्रायः व्यापार वस्तुओं के क्रय विक्रय से होता है। जिन वस्तुओं का क्रय विक्रय होता होता है उन्हें पण्य कहते हैं। पण्य में तीन धर्म होने चाहियें। (१) वह उपयोगी होना चाहिए मनुष्य के सुख दुःख हटाने का साधन हो। (२) श्रम से उत्पन्न हुआ हो (३) उसे देकर किसी दूसरी वस्तु का विनिमय किया जाता हो। अपने व्यवहार में उसका प्रयोग न हो रहा हो। घड़ा, तेल, रथ, पुस्तक, घड़ी, धोती कमीज आदि जितने पण्य पदार्थ हैं वे सब किसी न किसी सुख को देते हैं। इनके बनाने में श्रम लगता है इनके बेचने पर रुपये मिलते हैं। उनसे दूसरी वस्तुओं को मोल लिया जाता है।

यदि कोई वस्तु सुख देता हो या दुःख से बचाती हो पर उसे बनाने में किसी को श्रम न करना पड़ा हो तो उसे पण्य नहीं कहते। धूप के बिना मनुष्य का जीना कठिन है। यह सूर्य निकलने पर बिना परिश्रम मिल जाती है। नदी के पानी और वायु के लिए भी कोई श्रम नहीं करना पड़ता। ये वस्तुएं पण्य नहीं हैं इनका क्रय विक्रय नहीं होता। श्रम से उत्पन्न हो पर उपयोगी न हो तो भी पण्य नहीं हो सकती। कोई व्यर्थ गढ़ा खोद रहा हो तो उसमें श्रम है। पर मूल्य नहीं है। श्रम से उत्पन्न वस्तु अपने काम में लाई जा रही हो उसे बेचकर कोई अन्य वस्तु न ली जाय तो वह शुद्ध वस्तु है पण्य नहीं। कुम्हार यदि घड़े को अपने आप बनाकर अपने काम में ले आवे तो घड़ा पण्य नहीं रहता। यदि वह उसे बेचकर आटा दाल खरीदता है तब वही पण्य हो

जाता है। देखना चाहिए कि क्रय विक्रय की योग्यता का कारण कौन है? क्यों किसी वस्तु का मूल्य पड़ता है? अत्यन्त उपयोगी होने पर वायु धूप आदि का कुछ मूल्य नहीं इसलिए उपयोगिता मूल्य का कारण नहीं है। यद्यपि व्यर्थ गढ़े में श्रम के होने पर भी मूल्य नहीं है तो भी उपयोगिता और श्रम का एक भेद है। जो पण्य है, जिसका मूल्य है, वह श्रम जन्य भी है और उपयोगी भी। वस्तु के समान उपयोगिता को भी श्रम ने उत्पन्न किया है। उपयोगिता के कारण जो मूल्य है उसका भी मूल श्रम है। श्रम कभी उपयोगिता से नहीं उत्पन्न होता। इस दशा में श्रम को अर्घ का कारण समझना चाहिये। श्रम के बिना भी उपयोगिता बढ़ जाती है और उससे मूल्य घटने बढ़ने लगता है पर साधारणतः वस्तु का मूल्य श्रम से निश्चित होता है। सुलभ होने पर सेर भर गेहूं का मूल्य तीन आने हो सकता है। अकाल पड़ने पर उसका मूल्य ५ रुपये या दस रुपये तक भी हो सकता है।

किसी निर्जन स्थान में जहां बिना अन्न पानी के प्राण जाने का भय हो वहां एक रोटी, पानी के एक कटोरे, एक नारंगी वा एक लड्डू के लिए रुपयों के ढेर देने पड़ जाते हैं। सोना, चांदी और हीरों की राशियां प्राणों की तुलना में कुछ मूल्य नहीं रखतीं। जिस समय प्राण रक्षा के लिये किसी वस्तु की दुर्लभ होने से विशेष आवश्यकता हो तो उसका मूल्य साधारण दशा से कई गुना बढ़ जाता है। इससे अन्य वस्तुओं की स्वाभाविक उपयोगिता कम नहीं हो जाती और न समय विशेष के लिये आवश्यक वस्तु की उपयोगिता में वृद्धि होती है पर आपेक्षिक महत्व अवश्य बढ़ जाता है। सुलभ दशा में पानी के गिलास से जितनी प्यास बुझती है उतनी ही दुर्लभ होने की अवस्था में पर उसकी उपयोगिता इसलिए बढ़ती है कि उसके बिना जीवन नहीं बच सकता। कहते हैं कि एक नाविक कुछ लोगों को नदी के पार ले जा रहा

था। उनमें से एक विद्वान् ने पूछा तुम इतिहास जानते हो? उसने उत्तर दिया नहीं। विद्वान् ने कहा तुम्हारे जीवन का कुछ अंश व्यर्थ चला गया। क्या गणित का ज्ञान है? नहीं, जीवन का कुछ और भाग व्यर्थ हो गया। व्याकरण पढ़े हो? नहीं, कुछ और भाग व्यर्थ हो गया। भूगोल पढ़ा है? नहीं और भी भाग व्यर्थ। अभी इस प्रकार पूछ ही रहा था कि नाविक ने देखा, बड़े वेग से आंधी आने वाली है। उसने पूछा आप तैरना जानते हैं वा नहीं? उत्तर मिला नहीं। अब नाविक ने कहा आपका जीवन सारा व्यर्थ गया। आंधी आने वाली है। तैरना जानते हैं तो बच सकते हैं। बिना तैरे बचना कठिन है। इस तर्क से तैरने की अपेक्षा इतिहास गणित व्याकरण और भूगोल आदि के ज्ञान का महत्व अत्यन्त कम मानना पड़ेगा। संसार में लोग जब मूल्य का निश्चय करते हैं तब देखते हैं कि इसके बनाने में कितना श्रम लगा है। जिन वस्तुओं को बनाने में लगभग समान काल तक श्रम करना पड़ता है उनका मूल्य एक होता है। जब १६ सेर गेहूँ और लकड़ी के एक सन्दूक बनाने में समान श्रम का विश्वास हो जाता है तब उनका समान मूल्य स्थिर हो जाता है। किसी समय विशेष की उपयोगिता को दृष्टि में रखकर मूल्य हो तो निश्चय करना कठिन हो जाता है। एक काल में गेहूँ अत्यन्त उपयोगी है और दूसरे काल में सन्दूक की आवश्यकता बढ़ जाती है। श्रमकाल स्थिर है उससे मूल्य स्थिर हो सकता है। श्रमकाल का परिमाण स्थूल रूप से किया जाता है, क्षण क्षण की गिनती नहीं करते और न हो सकती है।

इस दशा में उचित यह है कि श्रम का फल सभी को मिले। पर यह नहीं होता। धनी लोग धन लगा कर वस्तुओं को खरीद लेते हैं और महँगे दामों पर बेचते हैं। श्रमियों को श्रम का पूरा फल नहीं मिलता। उसे धनी ले जाते हैं। एक जुलाहे ने

कपड़ा बनाया उसे खरीदकर व्यापारी बेचता है। यदि व्यापारी जुलाहे को श्रम का पूरा मूल्य दे तो व्यापारी को कोई लाभ नहीं हो सकता। कल्पना कीजिए एक व्यापारी ने सूत दो रूपये में खरीदा एक जुलाहा आठ घण्टे के लिये ।।।) लेकर दिन भर काम करता रहा है। यदि सूत के मूल्य और मजदूरी को जोड़कर तैयार कपड़े का मूल्य २।।।) रख दिया जय तो व्यापारी को कुछ नहीं मिलता। सूत से कपड़ा तैयार करवाने में व्यापारी भी श्रम करता है। यदि उसकी मजदूरी १) हो तो कपड़े का मूल्य ३।।।) होना चाहिए। इस रीति से मूल्य रखा जाये तो किसी को कष्ट न हो। किन्तु व्यापारियों को इतने से संतोष नहीं होता। वे कहीं अधिक दामों पर वेचते हैं। यहां विचारना यह है कि अधिकता किस कारण हुई। प्रतीत होगा कि जुलाहे को मजदूरी नहीं दी गयी। जुलाहा आठ घण्टे काम करता है और ।।।) लेता है चार घण्टों में वह बारह आने का काम कर चुकता है। शेष चार घंटों में जितना श्रम करता है। उससे कपड़े का मूल्य बढ़ जाता है। इस अतिरिक्त मूल्य को व्यापारी जुलाहे को न देकर स्वयं लेता है। अपने श्रम के साथ श्रमिक के श्रम का भी स्वामी बन जाता है।

यहां इतना ध्यान रखना चाहिए कि जो कुछ व्यापारी लेता है वह सब श्रमी का नहीं होता। व्यापारी का श्रम भी उसी में होता है। व्यापारी को मूल्य में सर्वथा भागहीन करना अन्याय है। व्यापारी और श्रमी दोनों अपने श्रम के स्वामी हैं। धन लगाने वाला एक श्रमी से पण्य मोल लेता है और दूसरे श्रमी को बेच देता है। वह व्यर्थ लेन देन नहीं करता उसे भी पण्यों की आवश्यकता होती है। इसकी पूर्ति उस धन से होती है जो लेन देन से मिलता है। धन लगाने वाला शुद्ध लोक सेवा के भाव से न खरीदता है न बेचता है। वह लाभ उठाता

है। पर श्रमी भी लेन देन में स्वार्थ हीन होकर लोक सेवा का भाव नहीं रखता। कृषक वस्त्र चाहता है और जुलाहा अन्न। धन लगाने वाले को भी अन्न वस्त्र चाहिए। कृषक और जुलाहे का काम इस मध्यवर्ती के बिना नहीं चलता इस अवस्था में तीनों श्रम करते हैं। इसके आगे भेद हो जाता है।

धन लगाने वाले की यह इच्छा रहती है कि श्रमी को कम देना पड़े और लाभ अधिक मिले। इसके लिए वह श्रमी को पूरा मूल्य नहीं देता। जितना वह एक स्थान पर श्रमियों को इकठ्ठा करता है उतनी ही उसकी पूँजी बढ़ती है। कुछ ही दिनों में उसे बिना श्रम के रुपया आने लगता है। उदाहरण लीजिये। जुलाहा वा लुहार, वस्त्र और छुरी आदि बनाते हैं। वस्त्र और छुरी बनाने के साधनों पर उनका स्वत्व होता है। तय्यार पण्य को स्वयं बेचने पर लाभ उन्हीं को पहुँचता है। पर जब सूत की मिल या लोहे के कारखाने में जुलाहे और लुहार काम करने लगते हैं तब अवस्था बदल जाती है। सूत और लोहे की मशीनें पण्य बनाने के साधन हैं जिनका अधिपति धनी है। श्रमी केवल श्रम करके भृति लेते हैं। अब जितना लाभ होता है उसे मिल का स्वामी लेता है। श्रमियों का दरिद्रता बढ़ती जाती है। मिल और कारखाने के खड़ा करने में जितना खर्च होता है उतना ब्याज समेत ले चुकने पर भी धन लगाने वाला सम्पत्ति इकठ्ठा करता रहता है। यह सारी आमदनी उसे बिना प्रयास के मिलती है पर श्रमिक दिन रात पिसते रहते हैं।

भारी भारी मशीनों के कारण रुपये वालों को बहुत सुविधा हो गई है। श्रमियों के पास इतना रुपया नहीं होता कि वे बड़ी मशीन या मिल और कारखाना चलाने के लिए विशाल भूमि खरीद सकें। न उनके पास खेत है न घर। बिना अर्जन

के जी नहीं सकते। इन लोगों को मिल स्वामियों के पास जाना पड़ता है। जिन शर्तों पर वे काम लेना चाहते हैं उन्हीं पर उन्हें तैयार होना पड़ता है। धनियों की शर्तें न मानें तो बेकार रह कर भूखा रहना पड़े। न रहने को स्थान मिले न पहनने को वस्त्र। कम से कम मजदूरी में अधिक से अधिक काम करने के कारण शरीर रोगी और दुर्बल हो जाता है। जब तक जीता है तब तक जिस किसी उपाय से काम करता रहता है। अपना और बच्चों का थोड़ा बहुत पालन पोषण करता है। जब शरीर बिल्कुल ही साथ देना छोड़ देता है तब परिवार को निराश्रय छोड़कर चल बसता है। प्रत्येक व्यापार में थोड़े से धनियों का आधिपत्य होने से साधारण जनता की क्रय-शक्ति घट जाती है। मिलों से वस्त्र बहुत उत्पन्न होता है लोगों को आवश्यकता भी रहती है पर तैयार माल व्यर्थ ही पड़ा रहता है। लोगों का कष्ट दूर करना उद्देश्य नहीं होता केवल अपने लाभ की ओर ध्यान रहता है। परिणाम में परस्पर कलह बढ़ता है।

जो लोग रुपया देकर किसी अच्छी कंपनी का कुछ भाग मोल ले लेते हैं उन्हें भी बहुत लाभ होता है। जो लगाया वह तो लिया ही। उसके अतिरिक्त भी बिना कुछ किये निरन्तर लाभ होता रहता है। कम्पनी की जब पूंजी बढ़ती है तब भाग लेने वालों की पूंजी बढ़ती है। जितना लाभ अधिक उतनी पूंजी अधिक।

समाजवाद से पहिले किसी ने श्रमिकों के श्रम का अपहरण विचारकों के सामने नहीं रक्खा था। श्रमिक दिन रात परिश्रम करते थे पर उन्हें निर्धन रहना पड़ता था। आत्मवाद श्रम और भृति की इस विवेचना के अनुकूल है। ऋत्विजों की दक्षिणा का विधान ब्राह्मण ग्रंथों में है। भगवान् जैमिनि ने उसका गंभीर विवेचन किया है। यज्ञ का कर्त्ता यजमान है। कुछ विधियां स्वयं करता

है कुछ को ऋत्विजों से कराता है। यज्ञ का फल यजमान को मिलेगा। ऋत्विज अपने काम की पूरी दक्षिणा लेंगे। दक्षिणा अधूरी हो तो यज्ञ का फल अधूरा रहेगा। दक्षिणा की व्यवस्था के अनुसार मजदूरी में रत्ती भर कमी नहीं होनी चाहिए। दक्षिणा और भृति में नाम का भेद है। वस्तुरूप में दोनों एक हैं। ऋत्विजों को कर्म के अनुरूप दक्षिणा न मिले तो यजमान फल को नहीं पा सकता यह पूर्व मीमांसा का सिद्धान्त है। कोई यजमान कितने भी साधन इकट्ठे करले यदि वह विद्वानों की दरिद्रता से अनुचित लाभ उठाना चाहेगा तो नहीं उठा सकेगा। दक्षिणा के उचित मात्रा से न्यून होते ही ऋत्विजों के परिश्रम पूरे फल के देने को शक्ति से रहित हो जांयगे। वैदिक कर्मों के समान लौकिक कर्मों में भी कर्मकरों को पूरी भृति न मिलने पर काम के अधिपति को उचित फल से वञ्चित कर देना चाहिए। यज्ञ और दक्षिणा की व्यवस्था के अनुसार भृत्यों का स्वामी हीन वेतन देकर कर्म के पूरे फल का स्वामी नहीं रहता। इस दशा में अतिरिक्त लाभ पर किसी प्रकार भी अधिकार युक्त नहीं हो सकता।

वेद इस प्रकार के किसी कर्म का विधान नहीं करते जिससे ऋत्विजों को निर्वाह करना कठिन हो जाय और यजमान के फल में निरन्तर वृद्धि होती रहे। यजमान किसी यज्ञ के अनुष्ठान से जिस फल का अधिकारी बनता है उसके कारण किसी अन्य फल को नहीं पा सकता। फल में दूसरे फल को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है। पूंजी जिस प्रकार जनक धन है इस प्रकार का का जनक यज्ञफल नहीं है। पूँजी श्रम से उत्पन्न है और उत्पत्ति के अनन्तर धन बढ़ाती है। यज्ञ से स्वर्ग वा जो कोई फल उत्पन्न होता है वह अन्य फल उत्पन्न कर के अपनी वृद्धि नहीं कर सकता। यज्ञ और फल में श्रम और भृति की समानता है।

पूंजी के तुल्य कोई पदार्थ यज्ञ और फल में नहीं है। फल यदि दूसरे फल को उत्पन्न करने लगे तो भारी अनर्थ हो जायगा। एक यज्ञ करके जो फल मिले वह कभी नष्ट नहीं होगा। उससे फलों की परम्परा उत्पन्न होती जायगी। किसी को दुष्कर्म करने से जो बुरा फल मिले वह यदि अन्य फल उत्पन्न करने लगे तो कर्ता का एक ही दुष्कर्म के फल से छुटकारा न हो सकेगा। कर्म का फल है धन। फल भोग्य होता है धन भोग्य होना चाहिए। धन को पूंजी अर्थात् अन्य फल का जनक नहीं होना चाहिए।

शुभ अशुभ कर्मों का जन्मांतर में जो अच्छा बुरा फल मिलता है उसके अनुसार भी श्रमियों की हीन मजदूरी अनुचित है। एक मनुष्य दूसरे का उपकार कर के परलोक में सुख पा सकता है। दूसरों से उपकार करा के उतना सुख पा सकता है जितने में वह किसी प्रकार से कारण है। प्रेरित मनुष्य बाधित होकर वा अपनी इच्छा से जिस काम को करे वह शुभ है तो प्रेरक उसके शुभ फल को नहीं पा सकता। देवदत्त यज्ञदत्त को प्यासों को पानी पिलाने की प्रेरणा करे तो देवदत्त प्रेरणा का जितना फल है उससे अतिरिक्त यज्ञदत्त के पानी पिलाने का फल नहीं पा सकता। देवदत्त से कुछ रुपये लेकर पानी पिलाता हो तो मजदूरी के अनुसार जितना यज्ञदत्त पिलाता है उतने का फल देवदत्त को मिलेगा। पर जितना बाधित होकर पिलाता है उस का शुभ नहीं अशुभ फल देवदत्त भोगेगा। कारण, देवदत्त ने यज्ञदत्त को बाधित कर के कष्ट दिया है। कोई भी वस्तु पूंजी बनकर दूसरों के कर्मों का फल भोगने के लिए अधिकारी नहीं बनाती। इस प्रकार आत्मवाद पूंजी द्वारा धन की वृद्धि को अयुक्त सिद्ध करता है।

वर्णाश्रम धर्म और समाजवाद का संगमन.

वर्णाश्रम धर्म और समाजवाद की अपरिहार्य आवश्यकता का निरूपण किया जा चुका है। दो आवश्यक धर्म परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। पर अनेक धर्म के श्रद्धालु समाजवाद को धर्म का शत्रु समझते हैं। और समाजवादी प्रायः धर्म पालन से समाजवाद की स्थिति को असम्भव कहते हैं। इसका कारण है। भारत और अन्य देशों में समाजवादी प्रायः अनीश्वरवादी हैं। रूस में आजकल समाजवादी राज्य है। उसने अनीश्वरवाद का बहुत प्रचार किया। इससे लोग अनीश्वरवाद को समाजवाद का आवश्यक अङ्ग मानने लगे हैं। अनुयायिओं के विश्वासों की और बात है पर समाजवाद के शुद्धरूप का ईश्वर के विरोध और स्वीकार के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। आचार्य मार्क्स की विवेचना में प्रपंच के कर्त्ता सगुण ईश्वर की सत्ता नहीं है। पर उनके अनुसार भी ईश्वर का निषेध समाजवाद के लिये अनावश्यक है। जो समाजवादी नहीं हैं वे भी अनीश्वरवादी हैं। अनीश्वर वाद का बाहुल्य पिछली दो शताब्दियों की विशेषता है। गत दो शताब्दियों में मनुष्य का ज्ञान आश्चर्यजनक रूप से बढ़ा है। बात की बात में विमान उड़कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा पहुंचते हैं। क्षण भर में बिजली की गति से एक स्थान का समाचार संसार के कोने कोने में पहुंच जाता है। चलते फिरते चित्र बोलते दिखाई देते हैं। हजारों मीलों की दूरी से कहा हुआ शब्द इतना स्पष्ट सुनाई देता है कि प्रतीत होता है कोई सामने पास बैठा हुआ बोल रहा है। सब काम मशीनों से होने

लगे हैं। मनुष्य को कुछ करना नहीं पड़ता। कहने में देर होती है पर करने में नहीं ? बड़े बड़े इंजन जहाज बन्दूक तोप मोटर और टैंक घंटे में तय्यार मिलते हैं। आटा पिसता है कपड़ा बनता है। सामान उठाते हैं सब मशीनों से होता है। पशुओं पक्षियों और वृक्षों की सृष्टि बदलदी है। पशुओं और पक्षियों की नई नई जातियां उत्पन्न की गई हैं जो पहले देखने सुनने में नहीं आती थीं। वृक्षों में जिनके फूलों का एक रंग था उनके अनेक रंग हो गए। एक पौदे की कई जातियां हो गई हैं। जिनके कांटे थे उनके कांटे नहीं रहे। आकाश में जो दूर दूर के नक्षत्र दिखाई नहीं पड़ते थे अब दूरबीनों के सामने प्रत्यक्ष हो उठे हैं। जो कृमि कीट साग भाजी में, पानी में रुधिर में रहते थे, इन चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं पड़ते थे केवल तर्क गम्य थे, उनका सारा रंग ढंग प्रत्यक्ष हो गया है। ज्ञान के इस अभूतपूर्व उत्कर्ष को देखकर बहुतों क- तर्क के सामने ईश्वर भागता हुआ प्रतीत होता है। इसके प्रतिकूल अन्य विवेचक वर्तमान काल के सूक्ष्मदर्शक ज्ञान से अतीन्द्रिय ईश्वर के दृढ़ विश्वासी हो गए हैं। उसके जिस महान् ज्ञान और सामर्थ्य का पहले परिचय न था वह अब अनुभव में आने लगा है। अणु-अणु में उसकी महिमा स्पष्ट होती जा रही है। इस विषय में चाहे मतभेद हो, समाजवाद के कारण ईश्वर विश्वास में कोई विघ्न नहीं है।

जो लोग ईश्वर भक्त हैं वे वर्णाश्रम धर्म के माननेवाले हैं। स्मृतियों में वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन है। उनमें विवाह यज्ञ राज्य धर्म आदि का वर्णन है। लोग सोचते हैं समाजवादी ईश्वरभक्ति नहीं करने देते। ये यज्ञों को भी नहीं करने देंगे। विवाह के पवित्र धर्म को भी नहीं रहने देंगे। केवल खाने पीने का प्रबन्ध करेंगे पर खाना पीना ही सब कुछ नहीं है। यह सब

श्रम है। समाजवाद को न ईश्वरभक्ति के रोकने की आवश्यकता है न यज्ञों के नाश की। विवाह की पवित्रता को नष्ट करने की भी उसकी इच्छा नहीं है। यह उस पर झूठा कलङ्क है। समाजवादी वा असमाजवादी कोई भी राज्य शासन-विधि के साथ विरोध न होने पर किसी सम्प्रदाय के कामों में रुकावट नहीं डालना चाहता। भगवान् का भजन यज्ञों का अनुष्ठान और पति पत्नी का परस्पर दृढ एक रस प्रेम, भूमि मिल कारखानों पर समाज का अधिकार होने से, बिना श्रम के पूंजीबल पर अर्जन के रोक देने के कारण श्रमिकों को अपने श्रम का पूरा लाभ पहुँचाने से कुछ भी कम नहीं होता। समाजवादी शासन में इन धर्मों का पालन सुविधा के साथ हो सकता है।

वर्णाश्रम के शुद्ध स्वरूप में भी कुछ उन धर्मों को आवश्यक मान लिया गया है जो उसके सहचारी हैं। पर उससे अविभाज्य नहीं । दूध और पानी मिलकर एकाकार हो जाते हैं। पर दोनों का स्वरूप-आत्मा-भिन्न है। वर्णाश्रम धर्म में भगवान् का भजन इसी प्रकार का है। आपाततः यह असंगत प्रतीत होता है। परन्तु कुछ ध्यान देने पर दिखाई देगा कि ईश्वर विश्वास वर्णाश्रम का आत्मा नहीं है। साहचर्य और तदात्मकता में भेद है। व्यक्तियों का अपनी योग्यता के अनुसार कर्म करना वर्ण धर्म है। एक व्यक्ति का जीवन के भागों में नियत कर्म करना, आश्रम धर्म है। कुछ हैं जो शिक्षा दे सकते हैं। स्वार्थहीन होकर धर्म मार्ग पर चलने की प्रेरणा कर सकते हैं। कुछ शासन का सामर्थ्य रखते हैं। कुछ में धनार्जन की शक्ति है। और कुछ में सेवा की। यह सब ईश्वर विश्वास के बिना भी हो सकता है। केवल इतने से चातुर्वर्ण्य की पतिष्ठा हो जाती है। यह केवल नवीन कल्पना नहीं है। मीमांसकों में कुमारिल भट्टपाद और प्रभाकर आदि आचार्यों

का आदरणीय स्थान है। उन्होंने वर्णाश्रम की उत्तम विवेचना की है, उसमें ईश्वर को स्थान नहीं है। जगत् के उत्पादक ईश्वर का उन्होंने खण्डन किया है। ईश्वर ही क्यों इनके अनुसार चतुर्थ आश्रम संन्यास भी अवैदिक है। तीन ही आश्रम हैं? समाजवाद के लिए ईश्वरवाद या अनीश्वरवाद आवश्यक नहीं है। भट्टपाद और प्रभाकर के अनुयायिओं के समान समाजवादी ईश्वर और संन्यास को अनुपयोगी मानता हुआ भी वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन कर सकता है। इस भेद के कारण समाजवादी को वर्ण और आश्रम से बाहर नहीं कर सकते।

समाजवाद अनात्मक अनीश्वर है। सात्मक ईश्वर सहित भी हो सकता है। वर्णाश्रम धर्म सात्मक ईश्वर सहित है। अनात्मक अनीश्वर भी हो सकता है। परमात्मा का स्थान न होने से पापमय त्याज्य नहीं कह सकते

समाजवाद का मुख्य कर्त्तव्य है राज पर अधिकार। इसके बिना उसकी सफलता नहीं हो सकती। स्मृतियों ने जिस राजधर्म का विधान किया है उसका और समाजवादी शासन का आत्मा एक है। स्मृतियों ने प्रजापालन राज्य का प्रधान प्रयोजन कहा है। इसमें किसी का मत भिन्न नहीं हो सकता। शासन की रीतियां विविध हैं। समाजवादी शासन सारी प्रजा का हितकर है। इस शासन में बैंक, रेल जहाज, मिल, भूमि और जंगल पर कुछ का अधिकार न होगा। समुदाय अधिकारी होगा। खेती करेंगे तो मिलकर करेंगे लाभ होगा तो सबका। सम्मिलित होने से खेती की पैदावार बढ़ जायगी। राज्य के हाथ में विशाल संपत्ति के आ जाने से मकान शिक्षा चिकित्सा का प्रबन्ध सब के लिए होगा। एकतन्त्र और लोकतन्त्र शासनों में कुछ परिवारों के पास इतने मकान होते हैं कि उनका एक

एक व्यक्ति कितना भी फैल जाय सबको उपयोग में नहीं ला सकता। उधर दूसरी ओर हजारों परिवार पर्याप्त धन न होने से गर्मी सर्दी का बचाव नहीं कर सकते। समाजवादी शासन यह न होने देगा। कोई स्वार्थ वश बड़े बड़े कारखानों का स्वामी बनना चाहेगा, या बहुत से मजदूरों को भाड़े पर रखकर स्वयं अनुचित लाभ उठाने लगेगा तो अवश्य दण्ड दिया जायगा। इसमें प्रजा के हितैषी को दुःख नहीं होना चाहिये।

वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत है विवाह। गृहाश्रम विवाह पर आश्रित है। विवाह की पवित्रता को समाजवाद हटाता नहीं। स्मृतियों ने विवाह के जिस स्वरूप को सबसे उत्कृष्ट कहा है। जिसकी प्रशंसा वे लोग भी करते हैं जो उसके अनुसार आचरण नहीं करते वह है जिसमें दो ही पति-पत्नी के भाव से रहते हैं। समाजवाद के सिद्धान्त इसी को विवाह कहते हैं जिस प्रकार एक का अनेक मजदूरों पर अधिकार अन्याय है उसी प्रकार एक पुरुष का अनेक स्त्रियों को पत्नी बनाना। नाम मात्र के लिये राज्य की दृष्टि में सब बराबर हैं। पर व्यवहार में एक के आश्रित होने से बहुतों को दासों के समान रहना पड़ता है। भारत में पुरुष अनेक पत्नियां और तिब्बत में एक स्त्री के बहुत भाई हों तो वह अनेक पति रख सकती है। इससे जो झगड़े उठते हैं वे छिपे नहीं हैं। विवाह में दो आत्माओं का मिलन होता है। स्वतन्त्र आत्माओं के मेल से समाज का अभ्युदय है। पति और पत्नी स्वतन्त्र तभी रह सकते हैं जब दो हों। एक पति की अनेक स्त्रियां दासी होती हैं। पत्नी नहीं। एक के अनेक पुरुष दास हैं पति नहीं। विवाह दास बनाने का साधन नहीं है। पुरुष को बहु विवाह करने का अधिकार भारत में चिरकाल से है इसलिये पत्नी को दासी समझना प्रथा सी हो गई है। प्राचीन धर्म प्रेमियों ने पत्नी के दास्य का विधान नहीं किया। भगवान्

कालिदास के शब्दों में पत्नी 'गृहिणी सचिवः मिथः सखी प्रिय शिष्या ललिते कला विधौ" है दासी नहीं। अब यदि समाजवाद प्रचलित बहु विवाह को रोक दे तो इससे गृहाश्रम का कल्याण है। खाने पीने की सुविधा के कारण किसी स्त्री को वेश्यावृत्ति न करनी पड़ेगी। इस प्रकार पवित्रता बढ़ेगी घटेगी नहीं। बच्चों पर अवश्य मां बाप का ही अधिकार न होगा। राजा भी उनकी देख रेख करेगा। माता पिता के कारण उनके भरण और लिखने पढ़ने में विघ्न होता हो तो राज्य नहीं सहेगा। असमाजवादी राज्य भी बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं। वस्तुतः प्रजा का सच्चा पिता राजा है। शिक्षा और रक्षा उस पर आश्रित है। मां बाप केवल जन्म के पिता हैं। भगवान् कालिदास ने इन गुणों से दिलीप को प्रजा का पिता कहा है। समाजवादी शासन में समाज राजा है। अतः वह पिता है। अब उन आक्षेपों का विचार करना चाहिए जो वर्णाश्रम धर्म को समाजवाद का विरोधी कहते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि धार्मिक लोग ईश्वरभक्त होकर कर्म करना छोड़ देते हैं। वे कहते हैं परमात्मा सब प्रबन्ध कर देगा। समाजवाद में समाजवाद के सिर पर कोई भार बन कर नहीं रह सकता। यह आक्षेप अयुक्त है। धर्म में प्रत्येक के लिए कर्म आवश्यक है। गुण कर्म पर ही वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा है। रहा परमेश्वर का ध्यान सो उसके करने वालों ने जनहित के लिए जीवन बिता दिया है। निकम्मे पड़े रहने वाले साधु सन्त भी हैं जो दिन रात भगवान् का नाम लेते रहते हैं। पर नाम जप के साथ निकम्मा रहना उनकी अपनी इच्छा है। शास्त्र की आज्ञा नहीं। वेद ने जप मात्र को निर्वाह का साधन नहीं कहा। वह्वृचों ने कहा है —"रिक्तं वा तेदतदक्षरं यदोमिति" ओम् की महिमा स्त्रों में भरी पड़ी है। पर यहां कहा है केवल ओम् अक्षर

रिक्त है, उससे किसी का भरण नहीं हो सकता। संप्रदायों के कुछ कर्म हैं। जो धर्म कहे जाते हैं। प्रत्यक्ष में वे दुःखदायी हैं। किसी दूर के काल में उनसे होने वाला सुख तर्क द्वारा प्रतीत नहीं होता। कुछ लोग गंगा में नवजात शिशु को बहा कर अपना मनोरथ पूरा करना चाहते हैं। कुछ की लालसा है, जगन्नाथ पुरी में जगन्नाथ के भारी रथ के नीचे दब कर प्राण निकल जांय। काश्मीर के कुछ पर्वत पवित्र माने जाते हैं उनके ऊंचे शिखरों से गिर कर कई मुक्त होना चाहते हैं। अवश्य ही समाजवाद इन सांप्रदायिक धर्मों का अनुष्ठान रोक देगा। असमाजवादी राज्य सम्प्रदायों को हानिकारक कर्म नहीं करने देते। इस रोक थाम से किसी को हानि नहीं पहुँचती। सम्प्रदाय समाज के विरोध में तब उठेंगे जब उन पर सीधी चोट होगी। जब सारी जनता में कोई मिलों और कारखानों का अधिपति न बन सकेगा, गांव के गांव जब व्यक्तियों से छिन जायगे। तब मठों को जमींदारी भी न रहेगी। मठधारी भी आश्रितों के श्रम पर मोटरों में बैठकर विहार न कर सकेंगे। संप्रदाय विरोध करें या पूंजीपति समाजवाद ने सारे अनर्थों के मुख्य कारणों का मूल से उच्छेद करना है। एक बार इसके लिए संग्राम होकर रहेगा। धर्म प्रेमी को इससे क्षोभ नहीं होगा। संप्रदायों के लोग मठों की संपत्ति पर स्वय नियन्त्रण रखना चाहते हैं जिससे मठाधीश उसका दुरुपयोग न कर सकें।

✓ वर्णाश्रम धर्म और समाजवाद के संगम होने पर भारी लाभ होगा। समाजवाद से आर्थिक कष्ट न रहेंगे। योग्यता के अनुसार कर्म करने का अवसर मिलेगा। इसके अनन्तर वर्णाश्रम धर्म से कर्मो में कौशल आयेगा। गुणों के अनुसार कर्म का वरण करने से वर्ण मिलता है। योग्यता की पूरी परीक्षा करके कर्मों का व्रत लेना होगा फिर जीवन भर उन्हीं का अनुष्ठान करना

चाहिए। व्रत के बिना भी कर्म हो सकते हैं। पर उससे जैसा चाहिए वैसा कौशल नहीं उत्पन्न होगा। आज एक ने शिक्षा देने का काम आरम्भ किया, कुछ दिनों के बीतने पर उसे छोड़ कर कपड़े के व्यापार में हाथ डाल दिया, फिर राज्य के किसी विभाग में लेखक का काम लिया इस प्रकार अस्थिर चित्त हो कर कई ढंग के काम करने से किसी काम में निपुणता नहीं होती। व्रत धारण करने पर कष्ट सह कर भी अपने वर्ण का काम करना होगा आपत्तिकाल की और बात है, साधारण दशा में व्रत लेकर नियत कर्म का त्याग करेगा तो पतित हो जायगा। आपत्तिकाल में उत्कृष्ट वर्ण हीन वर्ण के काम से स्मृतियों के अनुसार जी सकता है नियत कर्मों पर आश्रित वर्ण व्यवस्था न होने से समाज का अभ्युदय नहीं मनुष्यों के कार्य परस्पर के सहायक तब होंगे जब करने वाले विशेषज्ञ होंगे। उचित ज्ञान के बिना चाहते हुए भी एक का कार्य दूसरे की सहायता न करेगा। करेगा भी तो कमी रह जायगी। व्रत से पवित्रता आती है। वर्ण की रक्षा कर्तव्य हो जाती है। त्यागी तपस्वी ब्राह्मण अपनी इच्छा से लक्ष्मी को दूर रख कर व्यवस्था रक्खेंगे। उन्हें प्रलोभन न गिरा सकेंगे न धर्म में प्रवृत्त करेंगे। अपने धर्म-नियत कर्म-के पालन से जो आनन्द मिलेगा वही सबसे बढ़कर उनकी प्रेरणा करेगा। यह वर्णधर्म की महिमा है कि समजवाद की सुविधाओं के न होने पर भी भारत में शताब्दियों से ब्राह्मण धर्म का उपदेश करते आ रहे हैं। उनके कारण भारतीय संस्कृति की बहुत कुछ रक्षा हुई है। जिन्हें साधारण घरों में रहना पड़ा रेशमी वस्त्र जिनके शरीर की शोभा नहीं बढ़ाते थे, जिनका आहार दूध दही चावल गेहूं आदि पवित्र पदार्थों से था. अनेक प्रकार के व्यसनों के लिए जिनकी रुचि न थी उन विप्रों ने निरन्तर शास्त्रों का मनन

किया। नये नये तत्व का आविष्कार किया। धन का लोभ शास्त्रों से हटाकर उन्हें खेती में नहीं ले गया। घी लकड़ी या लोहे की बड़ी बड़ी दुकानें खोलकर रुपया चांदी और सोने से उन्होंने तिजौरियां नहीं भरीं। पढ़ाया भी तो बिना पैसा लिये। स्मृतियों ने भृति से विद्या देने वाले को हीन कहा है। क्षत्रिय और वैश्यों ने प्राण देकर अपने धर्म की रक्षा की। स्वतंत्रता की रक्षा के लिये रोम रोम तीरों से बिंध गया रण भूमि का अणु अणु रुधिर पी गया, शत्रु को रोकने में ढील नहीं की। बूंद बूंद करके जिसे इकठ्ठा किया, उसे वैश्य ने समाज की रक्षा के लिये पानी के समान बहाया। भूखे रहना पड़ा तो रह गये, धन देने से पीछे नहीं हटे।

अयोग्यों के हाथ में पड़कर जन्म मूलक होने के कारण वर्णधर्म से हानि भी हुई। पर यह दोष पुरुष का है धर्म का नहीं। आग से मनुष्यों के कितने ही प्रयोजनों की सिद्धि होती है पर उससे नगर भी जल जाता है। ब्राह्मणों ने जब से धर्म कर्म के बिना ऊंचा पद चाहा तब से गड़बड़ी हुई। ज्ञान का अर्जन नहीं किया। शास्त्र का अभ्यास छोड़ दिया, धर्मोपदेश की शक्ति नहीं रही और विद्वान् त्यागियों के योग्य प्रतिष्ठा की इच्छा की? इस दशा में सत्कार कहां? कहने को ब्राह्मण, खेती नहीं करते तराजू नहीं पकड़ते, पर भीख मांगना धर्म समझते हैं। स्थान स्थान पर कहते फिरते हैं, ब्राह्मण हैं जगन्नाथ पुरी काशी हरिद्वार की यात्रा का है दान दीजिए। अशिक्षित होने से धनियों के पास रसोइये का काम करते हैं। अनेक स्थानों में पाचक का काम ब्राह्मणों के लिये नियत सा हो गया है। धनार्जन किसी प्रकार नहीं कर सकते, नक्षत्र गिने तिथियां गिनीं धनियों के पास गये और मांगने लगे आज एकादशी है आज पूर्णिमा है, इस पर्व पर दान का बड़ा फल है। बहुतों ने भोजन करके स्वर्ग

पहुँचाने का काम ले लिया है। अभी खाया, फिर खाया, खाये पर खाया, उदर में स्थान हो या न हो, लड्डू पेड़ा डालते गये। मुख्य रूप से दान पर निर्भर रहने के कारण सजातीयों की निन्दा के बिना काम नहीं चलता। कहते हैं उसने क्या पढ़ा है। पूरा दम्भी है। लोगों के सामने आंखें मूंद कर जप करता है। पैसे के लोभ से झूठ बोलते नहीं झिझकता। ब्राह्मण समाज के उत्तम अंग-सिर-होते हैं। जब वे गिर गये त क्षत्रिय वैश्य और शूद्र भी गिरे। शरीर सिर के न रहने पर देर तक नहीं खड़ा रहता।

समाजवाद शोषण मिटाता है पर इतना पर्य्याप्त नहीं। कर्मों का नियमन व्रत धारण के बिना नहीं हो सकता। वर्णधर्म में काम का रसकाम को नियत रक्खेगा बल से नहीं करना पड़ेगा। जिस काम का समाज के लिये उपयोग है और उसे एक मनुष्य रुचि के साथ कर सकता है तो विघ्न होने पर नहीं छोड़ेगा। रुचि के काम से हटना तब पड़ता है, जब उसके द्वारा परिवार का भरण नहीं होता। काम योग्यता के अनुसार मिले, जो प्रधान मन्त्री का काम कर सकता है वह उस पर रहे, जो बाल बनाने कपड़े धोने रंगने सड़क पर झाड़ू लगाने की योग्यता रखते हैं वे उन कामों पर रहें, सामान्य आवश्यकताओं को समाज पूरा करता रहे. तब प्रधान मन्त्री ही नहीं धोबी नाई और चमार भी अपने कामों को नहीं छोड़ना चाहेगा। अन्न खाने के लिये, वस्त्र पहनने के लिए, घर रहने के लिये चिकित्सा रोग हटाने के लिये, शिक्षा की सुविधा ज्ञान के लिए जब प्रत्येक को होगी तब सब अपने कर्म में स्थिर रहेंगे। आज झाड़ू लगाने वाला अपने काम से असन्तुष्ट है उसके भोजन और शिक्षण का प्रबन्ध नहीं है। कमिश्नर और गवर्नर सैकड़ों हजारों रुपये वेतन में लेते हैं पर झाड़ू देने वाले को दस पन्द्रह रुपये ही मिलते हैं। निर्वाह चिन्ता से मुक्त होना वर्ण को स्थिर करने के लिए आवश्यक है।

यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सुलभ होने से लोग काम करना छोड़ देंगे। जो काम न करेगा वह भरण न कर सकेगा। पहले बाधित होकर काम करना होगा, पीछे अभ्यास होने पर श्रम का रस नहीं छोड़ने देगा।

आजीवन एक प्रकार का कर्म योग्यतानुसार करने से समाज में चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठा अपने आप हो जायगी। वर्ण भेद होने से आजकल के वर्ग-भेद के समान परस्पर विरोध की शका नहीं करनी चाहिये। जब कोई अन्याय न कर सकेगा तब बैर नही होगा। शूद्र श्रम का फल पाकर सपन्न है, निर्वाह की चिन्ता से व्यकुल नहीं फिर ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य की सेवा में झिझक क्यों होगी। मान अधिकार और धन का भेद वर्णों में रहेगा श्रम में भेद है, फल में भेद होगा। श्रम फल और वर्ण दोनों के भेद का कारण है। शरीर के अङ्गों में भेद है। जितना उनमें ऊंच नीच है उतना वर्णों में है। द्विजों को शूद्र से घृणा न होगी वे उसकी सेवा के आभारी रहेंगे। जो मान अधिकार और धन ब्राह्मण का है वही शूद्र का हो तो अन्याय है। दो मजदूरों में एक मिट्टी की कम टोकरियां डाले और दूसरा अधिक तो दोनों समान मजदूरी नहीं पा सकते। जहां जो विशेष श्रम है वहां उसका ज्ञान होना चाहिये। विशेषज्ञता के न होने का नाम पक्षपात शून्यता नहीं।

कर्म मूलक वर्ण व्यवस्था के स्थिर हो जाने पर वश परम्परा वे ही वर्ण जन्म सिद्ध हो जायंगे। कर्म का प्रभाव वश गत होकर सहज रूप में पाया जाता है। कुछ घोड़े तीव्र वेग से दौड़ने वाले होते हैं, उनका समान गुण वाली स्त्रियों के साथ, सम्बन्ध जिस सन्तति को उत्पन्न करता है उसकी गति अन्य घोड़ों की अपेक्षा तीव्र होती है। उसे वेग के लिए बहुत अभ्यास नहीं करना पड़ता। शहरों के घरेलू कुत्ते स्वामि भक्त होते हैं, पर

बहुत बलवाले और शिकार को झटपट दबोचने वाले नहीं होते। शिकारी भेड़िये और शहर की उत्तम जाति की कुतियों के संबन्ध से इस प्रकार के कुत्तों की जाति उत्पन्न कर लेते हैं जो स्वामि भक्त भी होती है और बलिष्ठ भी। वह भेड़िये के समान शिकार पर झपटती भी है। दूध देने वाली उत्तम गायों और बल-शाली बैलों के मेल से कुछ पीढ़ियों में बहुत अधिक दूध देने वाली गायें जन्म लेती हैं। विशेषज्ञ तो क्या साधारण लोग भी देखने मात्र से जान सकते हैं कि इनका बंश भिन्न है। कई कामों से वंशका प्रभाव मनुष्यों में भी अत्यन्त स्पष्ट है। मारवाड़ के व्यापारियों के कुछ वंश इस प्रकार के हैं, जिनके युवक छोटी आयु में थोड़ी सी पूंजी लेकर व्यापार करने लगते हैं। और कुछ ही दिनों में भारी संपत्ति के स्वामी हो जाते हैं। ब्राह्मणों और सैनिक क्षत्रियों के बालक वर्षों तक व्यापार की शिक्षा लेकर भी उनकी तुलना नहीं कर पाते। योद्धा जाति के लोगों का रण-कौशल बनियों के बस का नहीं। निर्भय होकर रण में जाने वाले राजपूत का तेजस्वी मुख मण्डल दुकान पर बैठकर वस्त्र बेचने वाले व्यवसायी और शास्त्रों के गूढ़ मर्म का मनन करने वाले ब्राह्मणों में नहीं दिखाई देता। पंजाब में मरासी नाम की एक जाति है उसके कई लोग वंश परम्परा से संगीत के ज्ञाता होते हैं। उनके छोटे छोटे बच्चे जिस लय ताल से गाते हैं उसे देख कर आश्चर्य होता है। दूसरे वंशों के लोग जहां वर्षों में पहुँचते हैं वहां वे दिनों में अनायास पहुँच जाते हैं। अभी दूसरे लोग गला सधाते हैं कि उन के कोयल से गले की स्वर लहरी कानों में पहुँच कर रोमाञ्चित कर देती है।

वंश क्रम से वर्ण जब जन्म मूलक हो जायंगे तब कर्मों के बटवारे में कोई कठिनाई नहीं रहेगी। बालकों को स्वधर्म-अपने

वर्ण के कर्म-की ओर स्वभाव से प्रवृत्ति होगी। बालक के वंश का परिचय करना होगा, उतने से उसको अपने वर्ण के कर्म का अधिकार मिल जायगा। वे स्वतः अपने वर्ण के नियत कर्मों में रहेंगे। इसके लिए न बल प्रयोग की आवश्यकता होगी न प्रलोभन की। उस समय वस्तुतः सवर्ण विवाह हो सकेगा। यह वर्ण व्यवस्था जन्ममूलक होती हुई भी गुण कर्म से युक्त होगी। केवल जन्म पर आश्रित वर्ण व्यवस्था गुण कर्म से निरपेक्ष हो कर कुलों को हीन और अयोग्यों के हाथ में बहुत बड़े अधिकार देती है, जिससे समाज गिरने लगता है। आरम्भ में गुण कर्म से वर्ण होंगे, फिर गुण, कर्म, जन्म तीनों कारण होंगे। आरम्भ की अवस्था में मनुष्यों को नियत कर्म करने में प्रयत्नशील होना चाहिए परिपक्व दशा में सहज भाव से धर्म पालन होने लगता है। अवश्य ही जो गुण सहज बन गए हैं वे सद के लिए स्थायी नहीं हो जाते। चिरकाल तक रह सकते हैं। पर जब लोग गुण कर्म से उदासीन हो जायंगे तब उन गुणों का वंश से लोप हो जायगा। जन्म का वर्ण कुछ काल तक रह सकता है। मनुष्य, घोड़ा हाथी आदि जातियों के अवान्तर भेदों के समान जब तक संतति चलती है तब तक प्रत्येक संतति में गुण कर्म न होने पर वर्ण नहीं रहता। भेड़ियों और कुत्तियों से उत्पन्न कुत्तों में जो विशेष बल होता है वह अगली सतति यदि हीन बल माता पिता के द्वारा होने लगे तो उसमें नहीं पाया जाता। कुछ पीढ़ियों में उन कुत्तों की शहर के साधारण कुत्तों की सी दशा ह जाती है। जन्म मूलक वर्ण की रक्षा वंश के निरन्तर धर्म पालन से हो सकता है।

आजकल की प्रचलित जन्माश्रित वर्ण व्यवस्था में शुद्ध वर्ण नहीं है। वर्णों का संकर हो रहा है और भगवद्गीता के शब्दों में कुल धर्मों का नाश हो रहा है। हैं शूद्र पर माने जाते हैं ब्राह्मण

और क्षत्रिय। विवाह भी शूद्रों में हो जाता है पर समझते हैं ब्राह्मणों में। संतान में क्षात्र और ब्राह्मण धर्म कैसे आ सकते हैं ?

हीन दशा में उन्नत दशा के धर्म का अनुष्ठान नहीं हो सकता पर जब उसके लिए यत्न किया जाता है तो वह विनाश का कारण बनता है। व्यायाम से शरीर में बल आता है रोग नहीं सताते। जो पहले रोगी है चारपाई पर बैठ नहीं सकता वह यदि व्यायाम करने लगे तो मृत्यु दौड़कर आयेगी। वर्णाश्रम धर्म की महिमा पूर्णतया सत्य है। जब वर्णों के गुण कर्म जन्म से प्रकट होंगे तब वंशों की देख भाल का विवाह में फल निकलेगा। सवर्ण विवाह का फल मूर्तिमान् होकर दिखाई देगा। मुख पर तेज होगा वाणी में माधुर्य। उस दशा में ब्राह्मण के बालक का क्षत्रिय वा वैश्य की कन्या से विवाह पतन का कारण है। संक्रामक रोगों से पीडित कुलों में विवाह करने से जिस प्रकार संतान में रोग प्रत्यक्ष होते हैं उसी प्रकार असवर्ण विवाहों से हीन गुण स्पष्ट होंगे। उस दशा में रूप के मोह वा धन के लोभ से उत्कृष्ट वर्ण के पुरुष का निकृष्ट वर्ण में सम्बन्ध धन धान्य से समृद्ध कुल की रोग पीडित दुर्बल सन्तान के सम्बन्ध के समान त्याज्य है। समाजवाद के प्रभाव से संपन्न समाज में वर्णों के व्यवस्थित होने से, सब के काम सहज भाव से परस्पर की सहायता करेंगे।

अब यहां आक्षेप उठता है, वर्ण जन्म से पृथक् हुए तब वे गुण कर्म से हीन हों वा मुक्त उनमें अपने को पृथक् समझने का भाव प्रकट होगा। वे जब समाज की उन्नति का विचार करेंगे तब अंग बनकर नहीं करेंगे। ब्राह्मण ब्राह्मणों की उन्नति चाहेगा अन्य वर्गों के विषय में उदासीन रहेगा। अन्य वर्णों का व्यवहार भी इसी रूप से होगा। फिर वही कलह और द्वेष

रहेगा। सारा यत्न निष्फल हो जायगा। आज की दशा देखकर यह डर हुआ है। प्रधान रूप से कलह का कारण धन है। जब कोई धन को पूंजी न बना सकेगा तब बहुत से झगड़े आप से आप मिट जायेंगे। सब लोग आपस में आश्रित हैं, कोई एक वर्ण बिना अन्य वर्णों के व्यवहार नहीं कर सकता। इसलिए भिन्न वर्ण का होने पर भी समुदाय का हित सोचना ही होगा। जो वर्णों की प्रतिष्ठा नहीं चाहते उनके यहां भी कर्म विभाग रहेगा। अध्यापक, व्यापारी, सैनिक, धोबी नाई रथ चलानेवाले सब रहेंगे। क्या ये मिलकर कभी समाज के हित का विचार न करेंगे? धोबी, नाई अपने वर्णों के हित को ही देखेंगे? अध्यापकों और सैनिकों की उपेक्षा करेंगे? यदि ये मिलकर समुदाय का हित ध्यान में रख सकते हैं तो वर्ण क्यों उदासीन हो जायेंगे? स्त्री पुरुषों में भी जन्म से भेद है। यह कभी मिटेगा नहीं, किन्तु इतने से दोनों का स्वार्थ विरोधी नहीं बन सकता।

वर्ण व्यवस्था का शुद्ध रूप अत्यन्त उन्नत दशा का है। जब तक उस दशा पर नहीं पहुंचते तब तक समय के अनुसार कुछ फेर-फार करना होगा। आज अनेकों देशों में प्रत्येक पुरुष के लिए सैनिकों के समान युद्ध शिक्षा अनिवार्य है। जिनमें नहीं है वे भी अनिवार्य बनाना चाहते हैं। प्रत्येक देश को पड़ोसी देशों से डर है। पता नहीं कब कौन आक्रमण कर दे। जिस देश में कुछ ही भाग सैनिकों का है वह उस देश के सामने नहीं ठहर सकता जिसके सब पुरुष शस्त्रास्त्र से परिचित हैं। इस प्रकार की शंकित दशा में पुरुषों के तीन भाग रण में न जा सकते हों और केवल क्षत्रियों का एक भाग ही सेना में हो तो पूर्ण रूप से सैनिक देश का आक्रमण नहीं रोका जा सकता। वर्षों के लिए पराधीनता के नरक में रहना पड़ेगा। दास होकर वर्ण धर्म तो क्या किसी साधारण धर्म का भी पालन असम्भव